UGC APPROVED JOURNAL
(UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63)

ISSN 0973-1490

वर्ष-21.3 एवं 21.4

संयुक्तांक : जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून 2024

चिन्तन-सृजन

www.asthabharati.org

त्रैमासिक

आस्था भारती, दिल्ली

UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 21.3 एवं 21.4 संयुक्तांक : जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून, 2024

संस्थापक सम्पादक

स्व. बी.बी. कुमार

▼

सम्पादक

डॉ. शिवनारायण

▼

परामर्शी सम्पादक मंडल

श्री पी.सी. हलधर (पूर्व आई.पी.एस.)
अध्यक्ष, आस्था भारती, दिल्ली

प्रो. टी.जी. प्रभाशंकर प्रेमी
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बेंगलूर विश्वविद्यालय

प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन
वरिष्ठ प्रोफेसर, हिन्दी, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रो. देवशंकर नवीन
प्रोफेसर, हिन्दी, जे.एन.यू., दिल्ली

प्रो. चित्ति अन्नपूर्णा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय

▼

आस्था भारती

दिल्ली-110096

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपये
अन्दर कवर	15,000.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपये

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट्स
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
मकान नं. 167, सेक्टर 15-ए
नोएडा-201301
ई मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर-ए 5/6, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201102 (उ.प्र.) भारत द्वारा मुद्रित।

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं।

विषय–क्रम

संपादकीय परिप्रेक्ष्य 5
पत्रकारिता और सामाजिक दायित्व
डॉ. शिवनारायण

सृजन–विमर्श

1. कविता नहीं सिर्फ 'वचन' 7
सुभाष राय
2. दक्षिण की मीराँ : आण्डाल 15
डॉ. लहरी राम मीणा
3. कहानीकार बलराम 22
करुणाशंकर उपाध्याय
4. आल्हखण्ड की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना 26
छाया सिन्हा
5. मध्यकालीन कोरिया और नालंदा महाविहार के भिक्षु ध्यानभद्र 33
संतोष कुमार गुप्ता

स्त्री विमर्श

6. पूंजीवाद और स्त्री 41
सपना चमरिया
7. मध्यकालीन भारत में महिलाओं की शिक्षा 45
अरुण कुमार

अस्मतामूलक विमर्श

8. आदिवासी अस्मिता में स्त्री संघर्ष का सामाजिक प्रतिबिंब 52
नागेन्द्र कुमार
9. दलित आत्मकथाओं से झांकता ग्रामीण जीवन 56
रणविजय कुमार
10. 'पाँव तले की दूब' 62
विजय ज्योति

प्रवासी चिंतन

11. प्रवासी हिन्दी साहित्य की वैचारिकी 67
अभय कुमारी पुरी

लोक चिंतन

12. भोजपुरी लोकगीतों में 1857 की क्रांति 74
अरुण कुमार
13. भोजपुरी के लोकगीतों में सामाजिक चेतना 80
चाँदनी प्रकाश
14. 'भामती' में लोक संस्कृति 85
निधि कुमारी

साहित्य विमर्श

15. रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा शैली 90
डॉ शिप्रा प्रभा
16. धूमिल के काव्य में प्रगतिशील चेतना के तत्त्व 97
गौरव कुमार
17. भूमंडलीकरण की प्रक्रिया और समकालीन हिंदी उपन्यास 104
अजीत यादव
18. रेखाचित्र : कल और आज 107
राखी
19. नागार्जुन का काव्य : प्रगतिशीलता और जनसंघर्ष 113
खुशबू कुमारी
20. मत्स्यपुराण में निहित बहुख्याति शिक्षा 119
संतोष पांडेय

समालोचना

21. लेखक की यायावरी 125
विमलेन्दु सिंह

■

पत्रकारिता और सामाजिक दायित्व

डॉ० शिवनारायण

साहित्य एवं पत्रकारिता समाज के दर्पण हैं, जिसमें इसका अतीत एवं वर्त्तमान तो बिम्बित होते हैं, भविष्य–निर्माण के दिशा–निर्देश भी निहित होते हैं। यह विश्व के कोने–कोने में नव संसार, सहजीवता जागरण, सक्रियता, नवस्फूर्ति और गतिमयता, प्रगति और समृद्धि की प्रेरिका है। ज्ञान–विज्ञान, सूचना–क्रांति और जन–संसार क्रांति के द्वारा ही आज विश्वग्राम का सपना साकार होने को है। पत्रकारिता जनता की इच्छाओं अवधारणाओं को समझती है और उन्हें व्यक्त करती है। जनता की वांछनीय भावनाओं को जाग्रत करती है और यह सार्वजनिक दोषों को निर्भीकतापूर्वक प्रकट कर जनमानस को मूल्योन्मुख बनाने का कार्य भी संपादित करती है।

पत्रकारिता रचनाशील विधा है, जिसका धर्म मूल्य–क्रांति और जनक्रांति है। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक विद्रूपताओं और रूढ़ियों से मुक्ति और समता एवं न्यायमूलक समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करती है–पत्राकारिता। यह सामाजिकबोध एवं मूल्यों को स्वर प्रदान करती है। पत्रकारिता आज जागरूक समाज का अभिन्न अंग है। शिक्षा, लोकतंत्र, मूल्य, नीति इससे ही संचालित एवं निर्देशित होते हैं, जिससे समाज की अभिजात्यता विकसित होती है।

पत्रकारिता की सार्थकता सामाजिक जीवन को मूल्यगत प्रगति एवं समृद्धि प्रदान करने में है। यह सामाजिक जनमत को प्रतिबिम्बित करती है, समाज को नीतिगत निर्देश देती है और समाज को मूल्यपरक मनोरंजक सामग्री प्रदान करती है। यह उपभोक्तावाद एवं उपयोगितावाद का सम्यक बोध कराकर मर्यादित जीवन यापन का संदेश प्रदान करती है। यह टिप्पणी, लेख, सम्पादकीय, अग्रलेख इत्यादि के द्वारा सामाजिक विचारों तथा भावनाओं को निजी दृष्टि, मूल्य और अनुभूतियों से युक्त कर प्रकट करती है। इससे समाज के सुख–दुख, हर्ष–विषाद, उत्थान–पतन, उतार–चढ़ाव, राग–विराग, उन्नति–अवनति स्वर पाते हैं। उसमें समाज का स्पंदन रहता है। यदि पत्रकारिता एक ओर समाज की गतिवधियों से प्रभावित होती है तो दूसरी ओर समाज में नयी प्रेरणा, नये विचार और नये आदर्श भी फैलाती है। प्रारंभ से ही पत्रकारिता और समाज में अूटट सम्बन्ध रहा है। पत्रकारिता समाज की मान्यताएँ, रीति, नीति, समस्याएँ, आध्यात्मिक, नैतिक,

सांस्कृतिक परिवर्त्तनों, धार्मिक शैक्षिक क्रांति को विम्बित, प्रतिविम्बित करती है।

समाज को प्रगतिवादी मूल्यों और प्रजातांत्रिक मूल्यों की स्थापना के लिए पत्रकारिता उदबुद्ध एवं प्रेरित करती है। आज के भारतीय समाज में वर्त्तमान व्यवस्था, प्रशासन, शासन के विरुद्ध असंतोष, विद्रोह और आन्दोलनात्मक संघर्ष चरमोत्कर्ष पर है। अवसरवादिता, भोगलिप्सा अमानवीय आचरण का शिकार समाज पत्रकारिता में स्वर प्राप्त है। मानसिक विप्लव, कुंठा, निराशा और संत्रास को पत्रकारिता विविध रूपों में व्यक्त करती है। समाज की अपसंस्कृति ग्रस्तता से मुक्ति का उपकरण है। अन्य ज्ञान–शाखाओं और सांस्कृतिक प्रयत्नों की भांति पत्रकारिता में भी मानव–जीवन को सुन्दर और व्यक्ति के बीच व्यक्ति और समाज के बीच आत्मीयता सौंदर्य और साहचर्य, सहयोग का भाव भरती है। यह जीवन–दृष्टि को समुन्नत और विस्तीर्ण करती है। इस प्रकार पत्रकारिता और समाज में गहरा सम्बन्ध है। समाज पत्रकारिता से ज्ञान–विज्ञान, नीति–मूल्य का आलोक प्राप्त करता है और पत्रकारिता में सामाजिक मूल्यबोध अपेक्षित है। समाज की सामान्य अवस्था और परिवर्त्तनों से यह प्रभावित होती है और इसे मूल्य–क्रांति को वाणीबद्ध कर प्रभावित भी करती है। पत्रकारिता समाज के सत्य को शिवत्व से संपृक्त कर प्रस्तुत करती हैं, जिसमें जीवन का सौंदर्य भी निहित होता है।

सामाजिक शोषण–दमन जातीय विद्रूपताएँ आर्थिक विसंगति का शिकार मानव उसकी अभिव्यक्ति का कथ्य बनता है। अब पत्रकारिता में समाज का बाह्य रूप ही नहीं झाँकता, बल्कि वह सापेक्षता भविष्य के आलोक में देखती है। यह उसके अंतरंग को भी अपनाती है, उसकी आत्मा के स्पंदन को वाणी प्रदान करती है। पत्रकारिता मे ंसमाज अपना मुखड़ा देखता है। अपने गुण दोषों को आँकता है, उन्नत और परिमार्जित करने का दिशा–निर्देश प्राप्त करता है। यह पत्रकारिता द्वारा अपनी गति और दिशा को परखता है और अपने को सुधारता है। पत्रकारिता भी समाज के आत्मसाक्षात्कार का साधन है।

पत्रकारिता का दायित्व समाज का सत्यान्वेषण करता है, मूल्य और मानों का प्रकाशन एवं प्रसारण करता है। पत्रकारिता समाज से नयिंत्रित है और समाज पत्रकारिता से निर्देशित एवं उन्नति के लिए प्रेरित है। दोनों का परस्पर दायित्व हैं। दोनों की प्रगति एवं सम्पन्नता का प्रतिबिम्बन एवं प्रतिष्ठापन ही पत्रकारिता का दायित्व है, जिससे समाज संस्कारिता एवं मूल्यपूरक बनता है।

■

<u>सृजन विमर्श</u>

कविता नहीं सिर्फ 'वचन'

सुभाष राय *

वीरशैव आंदोलन का समय कन्नड़ भाषा के इतिहास का ऐसा स्वर्णिम काल था, जब एक साथ सैकड़ों वचनकार अपनी बात कह रहे थे। उनमें बड़ी संख्या में दलित थे, स्त्रियां थीं। उनके पास समृद्ध आतंरिक और आध्यात्मिक अनुभव था। जीवन और समाज को बदलने के सार्थक रास्ते थे। उनके लिए मनुष्य की पीड़ा असह्य थी। अत्याचार और शोषण अस्वीकार्य था। उन्हें आम लोगों को, गरीब और यातनाग्रस्त लोगों को जगाना था, एक नया समाज बनाना था। इसीलिये जनता से, लोक से अपने 'वचन संवाद' के लिए उन्होंने संस्कृत की जगह कन्नड़ को माध्यम बनाया। वचन अपने आप में साध्य नहीं थे, वे साधन भर थे। वचनकार सुन्दर समाज की रचना करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने सहज अभिव्यक्ति का सहारा लिया। कोई कला नहीं, कोई शैली नहीं, कोई छंद या संगीत नहीं। बसवण्णा कहते हैं।

'मुझे न मीटर का/पता है, न धुन का/मुझे तो ड्रम और सितार का/गणित भी नहीं पता/मैं परिचित नहीं हूँ/आरोह–अवरोह से/मैं जैसे प्रेम करता हूँ/वैसे ही गाऊंगा।'[1]

वचनकार भक्त थे, उन्हें प्रेम करना आता था। उनके प्रेम का विस्तार समूची सृष्टि तक, समूची प्रकृति तक था। प्रकृति स्वयं उनके माध्यम से गा रही थी। देह उनके लिए बांसुरी भी थी, जो बिन बजाये बज रही थी। बसवण्णा कहते हैं, 'मेरी देह को बांसुरी बना दो/मेरी शिराओं को बजने दो/उँगलियों के स्पर्श से/अपने 32 सुर बजाओ इस तरह/मेरे कूडलसंगमदेव।'[2] अगर उनके वचनों में कोई कला आयी, कोई संगीत आया, कोई अलंकार आया तो यह उनकी काव्य प्रतिभा का नहीं उनकी सहजता और उनके व्यापक अनुभव लोक की प्रतिश्रुति माना जाना चाहिए। इन वचनों का सहज सौंदर्य, इनकी स्वीकार्यता इतनी विराट थी कि कालांतर में उन्हें कन्नड़ भाषा में श्रेष्ठतम साहित्य के रूप में मान्यता दी गयी।

कन्नड़ में वचन साहित्य का कम से कम चार शताब्दियों का इतिहास है। 'वचन' का मतलब जो कहा गया। जो कहा गया, वह श्रुति नहीं है, सुना हुआ नहीं

* लेखक लखनऊ से प्रकाशित दैनिक जनसंदेश टाइम्स के प्रधान संपादक एवं सुप्रतिष्ठ कवि–चिंतक हैं। संपर्क : डी–1/109, विराज खंड, गोमती नगर, लखनऊ–226010, मो.–9455081894

है, न ही स्मृति या स्मरण का हिस्सा है। वह तुरंत कहा गया, अंतःकरण से उपजा एक त्वरित काव्यात्मक कथन, भीतर के संगीत की निष्प्रयास अभिव्यक्ति। एक ताजा अनुभव। ए के रामानुजन के अनुसार 'वीरशैव संत जंगम को महत्वपूर्ण मानते थे, स्थावर को नहीं। कविता उनकी नजर में राज दरबारों की वस्तु थी। वह प्रशस्तिकामनाओं का माध्यम बन गयी थी। इस अर्थ में वह भी स्थावर हुई। पहले से मान्य पारम्परिक कलाओं के प्रति एक तरह से वचनकार संतों का अस्वीकार भाव था। वे अपने को कवि नहीं मानते थे। उनका मानना था कि देह उनकी नहीं है। वह शिवार्पित है, इसलिए देह के जरिये वे नहीं गा रहे, शिव ही गा रहा है। 'वचन' का एक अर्थ 'गद्य' भी होता है, लेकिन वह केवल गद्य नहीं है।'[3] डा. एम एम कलबुर्गी का कहना है कि 'वचन' और 'रचना' दो अलग–अलग शब्द हैं। कविता कवि की प्रतिभा से रची जाती हैं, वह 'रचना' है। जबकि वचन उच्चतर मनस्थिति में स्वतःस्फूर्त फूटे कथन हैं। 'वचन' का अर्थ केवल 'गद्य' मात्र नहीं हैं। वे 'गद्य' हों या 'कविताश' लेकिन वे उन संतों की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्तियाँ हैं, जो अपने कथन और आचरण के प्रति अतिशय जाग्रत, सचेष्ट थे।'[4]. इस तरह कहा जा सकता है कि वचन न पूरी तरह 'गद्य' हैं, न ही 'कविता।' उन्हें 'गद्य कविता' या 'काव्य गद्य' भी कहा जा सकता है। कन्नड़ विद्वान काशीनाथ अंबलगे उसे 'गपद्य' कहते हैं।

वचन ज्ञान का, अनुभव का साहित्य है। सदियों पहले इन वचनकारों ने अपने लिए कहने की एक नयी शैली विकसित की। उनके सामने परंपरा से मिली हुई अनुशासित छांदस काव्य–कला थी लेकिन सारे वचनकार कोई विद्वान और छंद शास्त्र के मर्मज्ञ नहीं थे। वे ज्यादातर साधारण लोग थे। बातचीत और संवाद की इस प्रक्रिया में मुक्त छंद की एक नयी विधा ने जन्म लिया। उसे संस्कृत की परंपरा में छांदिक कविता नहीं कहा जा सकता। वे चिंतन और भावात्मक सघनता से उपजी हुई बातें थीं जो सीधे–सीधे कही जा रही थीं। एम एम कलबुर्गी मानते हैं कि 'कन्नड़ साहित्य में वचन कोई विधा नहीं बल्कि एक परंपरा है। विधा की तरह परम्परा किसी काल या परिस्थिति में बंधी नहीं होती है और देश–काल बदलने पर भी उसकी सत्ता बनी रहती है। कन्नड़ साहित्य की वे धाराएँ जिनकी चेतना किन्हीं देश काल से जुड़ी रहीं, वे धीरे–धीरे विलुप्त हो गयीं। दूसरी तरफ जिनमें गत्यात्मक चेतना थी, वे कालातीत होकर जीवित रहीं। वचन किसी भी तरह के आग्रह और फॉर्म से मुक्त हैं। इन्हें मुक्तक कहा जा सकता है। अलग–अलग प्रत्येक वचन शमुक्तक' की तरह दिखाई पड़ता है लेकिन समग्रता में देखने पर वह 'मुक्तक माल' की तरह नजर आता है।'[5]. वचन साहित्य ने कई शताब्दियों तक कवियों को प्रभावित किया। आज भी जनता के मन पर उसका गहरा असर है।

वचन सहज कथन हैं लेकिन सहज कथन का भी अपना स्ट्रक्चर होता है, शैली होती है। कोई भी मुक्त छंद की कविता पूरी तरह मुक्त नहीं होती। बिना स्ट्रक्चर के सहजता भी संभव नहीं होती। कुछ थीम वचनों में बार–बार रूप

बदलकर आती है, कुछ भाव, रूपक, बिम्ब और मुहावरे भी बार–बार आते हैं। संत एक दूसरे का अनुकरण करते भी दिखाई पड़ते हैं। अपने समय, अपने पेशे के मुहावरों का प्रयोग करते हैं। उपनिषदों से और फोक से लिए गए रूपकों का इस्तेमाल करते हैं। वे महान एकता के सर्जक की तरह सामने आते हैं। दैनंदिन के प्रतीकों को कालातीत प्रतीकों में बदल देते हैं। महान परम्पराओं को लघु परम्पराओं तक ले जाते हैं, उलटबांसियों को गली के आदमी तक पहुंचाते हैं। और सब कुछ इस तरह कहते हैं कि वह आम आदमी के गले में उतर जाय। ए के रामानुजन लिखते हैं कि 'वचनकार उपनिषदों के बहुत सारे रूपकों का इस्तेमाल करते हैं, जैसे 'बीज और वृक्ष', 'समुद्र और नदियां', 'मकड़ी और जाला', 'धागा और रत्न', 'नदी और नाव,' 'रथ और सारथी', 'मंच और अभिनय', सपने, फैंटेसी आदि। लेकिन वे ठीक उसी तरह उनका इस्तेमाल नहीं करते, जैसे कभी पूर्वजों ने किया था। उनके अर्थ आश्चर्यजनक ढंग से बदल देते हैं।'[6]. वे कविता रचने की पारम्परिक भूमि का अतिक्रमण कर जाते हैं। वचनों का काव्यशास्त्र भी मौखिक काव्यशात्र है। सीधे बात कहने की अनिवार्यता ने उन्हें मानक और उच्च वर्ग द्वारा बोली जाने वाली भाषा और उसकी साहित्यिक शैलियों, मीटरों को अस्वीकार करने का साहस दिया। उनके बिम्बों में, रिदम में और उनके मुहावरों में जो ताजगी दिखती है, आधुनिक कविता अभी तक उस ऊंचाई को नहीं हासिल कर पायी है।

वचन की परंपरा 10 वीं शताब्दी में शुरू हुई थी, 11 वीं शताब्दी में इसमें कुछ परिपक्वता आई और 12 वीं शताब्दी में यह अत्यंत महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाओं का माध्यम बना। शरणों ने अपनी बात प्रभावशाली ढंग से कहने के लिए वचनों में जिस सरल बिम्बात्मक और अलंकारिक शैली का प्रयोग किया, उसने सहज ही एक विराट रचनात्मक साहित्य की सर्जना का मार्ग प्रशस्त किया। देसी भाषा में भक्तों के ये लोक–गान साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। यह आम आदमी की बोली–बानी में आम आदमी का जीवनानुभव है, जीवन का सरल मधुर संगीत है। कन्नड़ भाषा में यह एक अपूर्व साहित्यिक क्रांति थी। यह देववाणी नहीं जनवाणी के तुमुल उद्घोष का समय था। यह वचनों की सामर्थ्य ही थी कि भक्तों, संतों का वचन गान जन–जन के भक्तिगान में बदल गया। वचन कल्पनाशील सौंदर्य और सूक्ष्म संवेदना को वहन करने में समर्थ ऐसा लयात्मक गद्य था, जिसमें मुक्त छंद की अपार सहजता विद्यमान है। वचन किसी शैली या विधा का बंधन स्वीकार नहीं करते। इसे मुक्त कविता की जगह कविता की मुक्ति कहना ज्यादा सार्थक और अर्थसम्पन्न होगा। वचन शरणों के अनुभव के मुक्त गान थे। ये केवल दार्शनिक और धार्मिक साहित्य नहीं हैं, ये जीवन के अंतरंग अनुभव से उपजा काव्यात्मक जन साहित्य है, जिसकी प्रासंगिकता कालातीत है। वीरशैव साहित्य के विद्वान और प्रख्यात कवि ए के रामानुजन के अनुसार, 'अपनी विविधता और समग्रता में मध्यकालीन संतों के वचनों से ज्यादा मौलिक और भावात्मक साहित्य कहीं और दिखाई नहीं पड़ता। वे सभी शिव की बात करते हैं, शिव से बात करते

हैं। वचन साहित्य है लेकिन साहित्य मात्र नहीं है। वे समाज में बदलाव उपस्थित करने वाले एक बड़े आंदोलन की महान आवाजें हैं, जिनमें आत्मसंघर्ष और आतंरिक भावात्मक लौ से उद्दीप्त प्रतिभाशाली संतों का अंतरंग बोलता है।'[7].

वचन साहित्य को कन्नड़ का उपनिषद कहा जाता है। 8. 10 वीं से 12 वीं शताब्दी तक तीन सौ वर्षों का समय वचन साहित्य की दृष्टि से उत्कर्ष काल माना जाता है। इस अवधि का प्रतिनिधित्व जो प्रमुख संत करते दिखाई पड़ते हैं, उनमें बसवण्णा, अल्लम प्रभु, सिद्धराम, दासिमय्या और अक्क महादेवी शामिल हैं। निस्संदेह ये सभी वचन परंपरा के महान कवि रहे हैं। इस काल में कम से कम तीन सौ वचनकारों की रचनाएँ मिलती हैं। बसवण्णा के पहले भी शरण कवियों की मौजूदगी के प्रमाण मिलते हैं। यह थोपा हुआ नहीं बल्कि एक स्वतःस्फूर्त आंदोलन था। रेवनसिद्धय्या (चरवाहा), मरुलसिद्ध (अछूत) जैसे जंगमों और श्रमिक एवं शिल्पी वर्ग से आये मादार चन्नय्या, डोहर कक्कय्या तथा जेडर दासिमय्या जैसे संतों के आपसी सहयोग का परिणाम था। इस आंदोलन में समाज में उपेक्षित जातियों से बड़ी संख्या में वचनकार सामने आये। मडिवाल माचिदेव (धोबी), अम्बिगर चौडय्या (फेरीवाला), वैद्य संगण्णा (चिकित्सक), मादार धुलय्या (मोची), हेंडद मारय्या (ताड़ी निकलने वाला), तुरुगाहि रामण्णा (चरवाहा), आय्दक्की मारय्या (धान बटोरने वाला), मेदर केतय्या (बास्केट बनाने वाला), नुलिय चंदय्या (रस्सी बनाने वाला), कन्नडि कायकद रामितंदे (दर्पण बनाने वाला), वक्कलिंग मुदन्ना (किसान) और मुक्त नाथय्या (हाक लगाने वाला) जैसे नाम लिए जा सकते हैं। वचनकारों की इतनी अलग—अलग पृष्ठभूमि से वचनों की विविधता का अंदाजा लगाया जा सकता है।

प्रथम वचन कवि मादार चन्नय्या के बहुत कम वचन उपलब्ध हैं। वे मोची थे। उन्होंने अपने वचनों में अपने पेशे से जुड़े रूपकों का बहुत संवेदनशील और कलात्मक प्रयोग किया है। मृत पशुओं के चमड़ा उतारने से लेकर उनसे चप्पल, जूते बनाये जाने तक की प्रक्रिया को मनुष्य की चेतना के जागरण की प्रक्रिया से जोड़ने के कुछ अद्‌भुत बिम्ब, रूपक उनके वचनों में मिलते हैं। वे वचन साहित्य के जनक माने जाते हैं। 9. डोहर कक्कय्या की चर्चा भी बहुत सम्मान से की जाती है। वे अपने वचनों में अपना अछूत होना छिपाते नहीं, 'अगर मेरे हाथ आप का स्पर्श नहीं कर सकते तो क्या मेरा हृदय भी आप का स्पर्श नहीं कर सकता?' जेडर दासिमय्या बुनकर परिवार से आते हैं। वे वंचित और गरीब लोगों की जिंदगी से अपने वचनों के लिए रूपक चुनते हैं। दासिमय्या की पत्नी दुग्गले भी कवि थीं। कन्नड़ वचन परंपरा में संभवतः प्रथम स्त्री कवि।'[10] शिल्पी वर्ग से आये इन वचनकारों ने अपने—अपने मुहावरे निर्मित किये, जिन पर उनके पेशे का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इनके साथ इनके पेशे से जुड़े शब्द, मुहावरे और रूपक भी वचनों में आये, जिससे वचन साहित्य में आकर्षक विविधता का सृजन हुआ। इनमें से अधिकांश जाति के कारण होने वाले अपमान से क्षुब्ध होकर

शरणों के साथ आए थे। ये सभी अपने नेताओं के अंध समर्थक नहीं थे। वे जरूरत पड़ने पर उनकी निर्भय आलोचना भी करते थे। माचिदेव झूठे वचनकारों पर हमला करते हुए कहते हैं, 'व्यर्थ के मनोरंजन में व्यस्त' जो वचन कहते हैं/ मित्र, क्या वे भी भक्त हैं ?/वचन उन जैसे नहीं हैं/न ही वे वचन जैसे, कारण यह है कि/पीठ पर तो तन और धन का भार है/ और सामने शब्दों का सहारा।' भिखारियों और गलियों में घूम–घूम कर अपनी कला का प्रदर्शन करने वाले लोगों में भी कई वचनकार थे। डक्केय बोम्मण्णा, बहुरूपी चौडय्या, कलकेतैया और नगेय मारितंदे कुछ ऐसे ही नाम हैं। गजेश मसणय्या और उरिलिंगदेव ने स्त्री रूप धारण कर प्रेम के अनेक सुन्दर गीत लिखे हैं। उन्होंने शरणसती के व्यक्तित्व को इस प्रकार आत्मसात कर लिया था कि यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि उनके वचन किसी पुरुष द्वारा लिखे गए हैं। गजेश कहते हैं।

जिस क्षण मैंने उन्हें देखा/मुझे दिशाएं विस्मृत हो गयीं/जब वे पहली बार बोले/मेरी देह से पसीना छूट गया/जब उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा/मेरी साड़ी की चुन्नट खुल गयी।'[11]

अक्क महादेवी के अलावा 34 स्त्री वचनकारों की रचनाएँ उपलब्ध हैं। बसवण्णा की पत्नी गंगाम्बिके, नीलाम्बिके और बड़ी बहन नगलाम्बिके प्रमुख स्त्री वचनकारों के रूप में जानी जाती हैं। कई वचनकारों की पत्नियां भी वचनकार थीं। दासिमय्या की पत्नी दुग्गले, आय्दक्की मारय्या की पत्नी लक्कम्मा, उरीलिंगपेद्दी की पत्नी कालव्वे, गुंडय्या की पत्नी केतलदेवी, बटलेश्वर की पत्नी गुड्डाव्वे, मोलिगे मारय्या की पत्नी मोलिगे महादेवी, रेवनसिद्धय्या की पत्नी रक्कम्मा, दसरय्या की पत्नी वीरम्मा, हड़पद अप्पण्णा की पत्नी लिंगम्मा ऐसी ही वचनकार हैं। पहली दलित स्त्री कवि कालव्वे ऊंची जातियों के पाखंड और धार्मिक भेदभाव के खिलाफ अपना क्षोभ जाहिर करती हैं।

'जो बकरा, मछली और पक्षी खाते हैं/वे ऊंची जाति वाले कहे जाते हैं /लेकिन जो शिव के लिए अर्पित/दूध देने वाली गाय खाते हैं/वे नीची जाति वाले कहे जाते हैं/नीच आखिर नीच कैसे हैं ?/ऊंची जाति वालों तुम नीच कैसे नहीं हो?'[12]

कुछ वचनकारों ने 'बेदागिन' और 'स्वरवचन' भी कहे। जैसे लोक परंपरा में पहेलियाँ गाई जाती हैं वैसे ही वचनों में बेदागिन वचन कहे जाते हैं। पहेलियों में जो बात कही जाती है, वह शब्दशः वही नहीं होती। उसमें असल अर्थ का अप्रत्यक्ष संकेत होता है, जिसे समझना होता है। लोक में प्रचलित इस शैली का वचनकारों ने उपयोग किया है। आत्मिक अनुभव के रहस्य को सीधी भाषा में कहना कठिन होता है, इसलिए उन्हें कहने के लिए एक अलग भाषा ईजाद करनी पड़ती है। बेदागिन वचनों को उलटबांसी भी कह सकते हैं। समय–समय पर संतों और भक्तों ने इसका प्रयोग किया है। शिल्पी समाज से आये वचनकारों ने इस शैली का अनूठा प्रयोग किया है। वचनकारों में अल्लम प्रभु के बेदागिन वचन

अद्‌भुत और श्रेष्ठ माने जाते हैं। आम तौर पर श्रोता देखने और अनुभव करने के सामान्य पारम्परिक और सरल तरीकों में जीता है। बेदागिन वचन उसे सोचने–समझने के नए तरीके अपनाने को विवश करते हैं। अनुभव की सच्चाई को लोगों तक पहुँचाने का यह एक अनूठा तरीका है, जो आनुभविक रहस्यों को खोलने की चुनौती देता है। बेदागिन की भाषा तांत्रिकों की अनेकार्थवाची संध्या–भाषा की तरह ही है।[13]

वचन गद्य कविता की शैली में कहे जाते हैं लेकिन उन्हें गाया भी जा सकता है। हालाँकि वे किसी राग या ताल को ध्यान में रखकर नहीं रचे गए फिर भी उन्हें गाया जा सकता है और उनकी मंचीय प्रस्तुति भी की जा सकती है। आंदोलन के दौरान वचनों की नुक्कड़ प्रस्तुतियां भी होती थीं। स्वयं अल्लम प्रभु गाते हुए वचन कहते थे। कुछ वचनकार बेहतरीन कलाकार भी थे। चौडय्या वेश बदल–बदल कर, मारितंदे विदूषक बनकर और कलकेतय्या सडकों पर घूम–घूम कर प्रस्तुति करते थे। चौडय्या ने गलियों में अपनी प्रस्तुति देते हुए वचन कहे। वचनों की रचना किसी एकांतिक साधना में नहीं हुई बल्कि अनुभव मंडप में होने वाली बहसों के दौरान हुई। शान्तरस नाम के एक वचनकार को यह जिम्मेदारी दी गयी थी कि वे अनुभव मंडप में चल रही वार्ताओं के दौरान कहे गए वचनों को नोट करें और उनका संग्रह करें। कुछ शरणों ने ऐसे वचन भी कहे, जो राग और ताल में निबद्ध हैं। ऐसे वचनों को 'स्वरवचन' कहा गया। ये संगीत का डिक्शन ध्यान में रखते हुए कहे गए। ऐसे ज्यादातर वचन बेदागिन वचन हैं। वचनकारों ने वचन रचनाओं के समानांतर वीरशैव समुदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी काम किया। वचनो के साथ–साथ इन अनुभवों की व्याख्या के लिए शास्त्र भी रचे गए। इसके बावजूद वीरशैव संत किसी भी तरह के शास्त्र और शास्त्रीयता के विरुद्ध थे। बसवण्णा कहते हैं कि अगर आतंरिक अनुभूति नहीं है तो केवल लिंग से चिपके रहने से कुछ नहीं होगा। सभी वचनकार अपने वचनों में एक नाम रखते हैं, जिसे 'अंकित' कहा जाता है। 'अंकित' उनके प्रिय देवताओं के नाम पर होते हैं। बसवण्णा 'कूडलसंगमदेव', अल्लम प्रभु 'गुहेश्वर लिंग' और अक्क महादेवी 'चेन्न मल्लिकार्जुन' को अंकित की तरह प्रयोग करते हैं।

वचनों में खुले समावेशी समाज के, मनुष्यता के और वैश्विक बंधुत्व के विरल और आकर्षक स्वप्न हैं। उज्ज्वला एस हीरेमठ लिखते हैं, 'वचनों में भाव, विचार और अनुभव का अद्‌भुत मिश्रण है। उनमें अद्वितीय शिल्प सौंदर्य है। वे ऐसे लघु दीप हैं, जिनकी रोशनी चेतन की आत्मगत और रहस्यमय दुनिया में ले जाती है। वे सैकड़ों अति विकसित आत्माओं की ऐसी भावोत्तेजक आवाजें हैं, जिनका एक–एक शब्द सर्वोच्च सत्ता के प्रति अजस्र प्रेम से आप्लावित है। स्त्री, पुरुष संतों के कई वचनों की गहराई, व्यापकता और करुणा कल्पनातीत है।'[14] वचन स्वतःस्फूर्त गहन अंतरंग अनुभवों के प्रेममय सृजन की तरह अभिव्यक्ति पाते हैं। अक्क महादेवी से संवाद के दौरान कहे गए अल्लम प्रभु के एक वचन का

काव्यात्मक सौंदर्य देखने लायक है, 'व्यक्त विलीन हो सकता है लेकिन अव्यक्त नहीं/व्यक्त और अव्यक्त का गठबंधन कैसे संभव हो सकता है/असीम के साथ बंधन कैसे संभव है/जब तक देह और देह के होने का कोई लक्षण शेष है/तब तक, सुनो मां, तुम गुहेश्वर लिंग तक नहीं पहुंच पाओगी।'[15]

शरणों के तमाम वचनों में उनके सघन अनुभव की सरस, बिम्बात्मक, अलंकारिक, मुहावरों और लोकोक्तियों से सज्जित अनूठी अभिव्यक्ति मिलती है और यही उसे काव्यात्मक सौंदर्य से भर देती है। ए के रामानुजन मानते हैं कि 'वीरशैव कवि शिव के मिथ पर बहुत ध्यान नहीं देते। उनका शिव सगुण होते हुए भी पूरी तरह सगुण नहीं है और निर्गुण होते हुए भी पूरी तरह निर्गुण नहीं। भक्ति कविता सगुण–निर्गुण के इसी तनाव पर खड़ी रहती है, यहीं संभव होती है। यदि शिव पूर्णतः एक व्यक्ति की तरह हो जाए तो उसकी अद्वितीयता समाप्त हो जाएगी और यदि वह पूरी तरह अमूर्त हो जाय तो उस पर कविता करना संभव नहीं होगा। वीरशैवों के लिए वह न तो केवल द्वैत है, न अद्वैत। वह कभी द्वैत है तो कभी अद्वैत। उसमें परत्व भी है और सुलभत्व भी। वह यहाँ भी है और इसके परे भी। मूर्त रूप में प्राप्य भी और अमूर्त रूप में अप्राप्य भी। दोनों संभावनाओं के बिना भक्ति या कविता संभव नहीं।'[16] साहित्य का आदर्श निर्वैयक्तिकता है लेकिन वचन वैयक्तिक साहित्य है। उनमें व्यक्तियों के वास्तविक अंतर्द्वंद्व प्रकट होते हैं, जो प्राचीन साहित्य से कहीं ज्यादा पूर्णता के साथ जीवन को अभिव्यक्ति देते हैं। वचन मानवीय महाकरुणा की आवाज हैं, जो केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं है, जिसकी व्याप्ति सारे जीव–जंतुओं, वनस्पतियों तक, समूची प्रकृति तक है। इतनी सघनता और त्वरा से यह करुणा शायद ही कभी प्रकट हुई हो। वचन अनुभवजन्य हैं, इसलिए वे सर्वदा प्रासंगिक, कालजयी रचनाएँ हैं। सदियों बाद भी ये आज भी जनता से उसी तरह संवाद करते हुए उपस्थित होते हैं जैसे अभी–अभी कहे गए हों। ये वचन गान किसी खास समय के नहीं बल्कि हर समय के गान हैं, मानवता के, नयी दुनिया के नए सपनों के गान हैं, जो मनुष्यता की रक्षा के लिए हमेशा गाये जाते रहेंगे।

संदर्भ :

1. स्पीकिंग ऑव शिवा : ए के रामानुजन : पेज 64 (I don't know anything like time-beats and metre/ Nor the arithmatic of strings and drums/ I don't know the count of iamb and dactyle / My Lord of the meeting rivers/ as nothing hurt you/ I'll sing as I love)
2. वही : पेज 20
3. वही : पेज 19 (One of the general meanings of 'vachana' is 'prose'. The vachankaras did not think of themselves as poets, for Poetry too is a part of court and temple and punditry, part of sthavar)

4. वचन/एम एम कलबुर्गी : पेज xxxiii (Vachana does not merely mean prose. Whether it is prose or verse, a Vachana is an expression of those who are mindful of their speech and conduct.)
5. वही : पेज xxxv (In the Kannad literary context, Vachan is not merely a literary genre but tradition. Unlike a genre, a tradition is not time bound and it exposes itself to different time and conditions. Different literary genre in Kannad which had the stationary consciousness naturally met with extinction; on the other hand, those which had the movement consciousness survived)
6. स्पीकिंग ऑव शिवा/ए के रामानुजन : पेज 22
7. वीमेन सेंट्स ऑव कर्नाटक इन सर्च ऑव ट्रुथ/डा उज्ज्वला एस हीरेमठ : पेज 29
8. स्पीकिंग ऑव शिवा/ए के रामानुजन : पेज xii
9. मेडिवल इंडियन लिटरेचर : एन एन्थोलॉजी, वॉल्यूम–1, के. अयप्पा पणिक्कर : पेज 171
10. वही : पेज 173
11 .वही : पेज 183
12. वही : पेज 185
13. वही : पेज 186
14. वीमेन सेंट्स ऑव कर्नाटक इन सर्च ऑव ट्रुथ/डा उज्ज्वला एस हीरेमठ : पेज 31
15. वही : पेज 31
16. कलेक्टेड एसेज ऑव रामानुजन : पेज 295 (The major Virsaiva poets do not pay much explicit attention to the mythological Siva. All devotional poetry plays on the tension between sagun and nirgun, the Lord as a person and the Lord as principle. If he were entirely a person, he would not be divine, and if he were entirely a principle, a godhead, one could not make poems about him.)

■

सृजन विमर्श

दक्षिण की मीराँ : आण्डाल

डॉ. लहरी राम मीणा *

''**य**ह अनुभव भी विचित्र रूप से है—कभी भक्त के रूप में, कभी कौसल्या, यशोदा, देवकी आदि माताओं के रूप में कभी नायिका के रूप में वह भी सयोग दशा में और विरह दशा में। संत परकाल का एक विलक्षण अनुभव है जिसमें वे पराजित रावण के सैनिक होकर श्री रामचन्द्र से करूणा की प्रार्थना करते हैं। संतों में कुछ उच्चकुल के हैं तो कुछ तद्‌भिन्न कुल के। उनमें अनेक पुरुष हैं—एक आंडाल (गोदादेवी) को छोड़कर ये बारह संत हैं।''—पंडित श्रीनिवास राघवन (अनुवादक), 'दिव्य प्रबंध' (आलवारों की वाणियाँ) भाग–8, हिन्दी भागवन, विश्वभारती शांति निकेतन।

भारतीय संस्कृति का आधार ग्रंथ वेद माने जाते है। भारतीय संस्कृति में वेदों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। 'विश्वमानुष' शब्द ऋग्वेद से आया है। आर्य और द्रविड़, दोनों परम्पराओं का मूल वेदों में ही देखने को मिलता है। वेद संसार के प्राचीनतम साहित्य के अक्षय ज्ञान भण्डार है। भारत में ऐसे विशेष रूप से दिखाई देता है। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का प्रेरक सूत्र विशिष्टा द्वैतवाद का संस्थापक आचार्य रामानुजाचार्य जी को मानते हैं। कबीर, सूर, तुलसी, मीरां, रसखान उनकी शिष्य परम्परा में आते है। भक्ति का बीज आल्वार संतों से ही किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है।

दक्षिण भारत में संतों ने ईश्वरीय भक्ति भगवान विष्णु और शिव इन दोनों रूपों में किसी न किसी रूप में की। शैव भक्तों को शिव का उपासक कहा गया, जिनकी पूजा शिव मंदिरों में होती थी। जिन्हें 'नायन्मार' कहा गया और वैष्णव भक्तों को भी 'नायन्मार' कहा गया जो विष्णु के उपासक थे। वैष्णव भक्ति धारा में बारह ऐसे अलौकिक भक्त उत्पन्न हुए जिन्हें आल्वार संत कहा गया। इन बारह आल्वार संतों में कुछ पूर्व जन्म सिद्ध प्रतीत होते हैं, जिनमें प्रमुख रूप से पेयार, पूदत्तार पोयहैयार, तिरूमळिशै नम्माल्वार, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त और तिरूप्पाणि तथा तोण्डरडिप्पोडि और तिरुमंगै ऐसे संत प्रमुख रूप से उत्पन्न हुए। सभी आल्वारों संतों में नम्याल्वार सबसे प्रमुख और प्रसिद्ध है।

* **संपर्क** – लेखक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के हिन्दी विभाग में सहायक प्रोफेसर हैं। मो.– 8010776556

विष्णुचित आण्डाल के पिता थे और इनके गुरू श्री विष्णुचित्त भट्टनाथ थे। आल्वार संतों द्वारा चार हजार पदों का 'दिव्य प्रबंध' नामक एक ग्रंथ लिखा, जिसमें मानों लोक रूपी जनमानस में भक्ति की बाढ़–सी ही आ गयी हो। आल्वारों की भक्ति जीव और भगवान दोनों को जाग्रत करती है। तमिल शब्द 'आल्वार' का अर्थ होता है–ईश्वरीय प्रेम में निमज्जित रहने वाला, डूब कर रहने वाला एवं लोक ह्दय पर शासन करने वाले संत।

तमिल जनश्रुति के अनुसार वैष्णव भक्ति विष्णुचित (पेरियाल्वार) को आण्डाल तुलसीवन में शिशु रूप में प्राप्त हुई थीं। इनका नाम गोदा रखा गया था। इनके पालन–पोषण पर भी एक राय नहीं दिखाई देती है कुछ लोग विष्णुचित्त को पालन पोषण कर्ता मानते हैं तो कुछ लोग पेंष्रिय आलवार को पोषणकर्ता मानते हैं। आल्वारों का समय लगभग आठवीं शताब्दी का माना जाता है। जिस प्रकार शैव परम्परा में नायनार भक्त हुए थे, उसी प्रकार वैष्णव परम्परा में आल्वार भक्त उत्पन्न हुए थे। इनकी संख्या मुख्यतः बारह मानी जाती है जिनमें प्रमुख रूप से आण्डाल, पेरिय आलवार, नम्मालवार, मधुरकवि, पोयकई, तिरूप्पन आदि। इन सभी की रचनाएँ 'दिव्य प्रबंध' नामक ग्रंथ में संकलित है।

आलवारों का समय आठवी शताब्दी माना जाता है। आलवारों में सबसे अधिक प्रसिद्धि अगर किसी को मिली थी तो वह थे नम्मालवार। नम्मालवार ने वैष्णव भक्ति में ऊँच–नीच और जाति पाति का विरोध करके एक आदर्श रूप समाज के सामने रखा।

नम्मालवार शुद्र होने के साथ साथ वैष्णव भी थे। इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि इनके पदों में आध्यात्मिकता और जीवन के कष्टों से मुक्ति पाने के लिए संदेश है। दूसरी तरफ आलवार भक्त तिरूअप्पन अछूत होते हुए भी आलवारों में सबसे प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे। लगभग सभी बारह आलवार भागवत पुराण से काफी प्रभावित माने जाते है। एक तरफ नम्मालवार शुद्र थे, तिरुप्पन अछूत थे और आण्डाल स्त्री थी। तीनों ही आल्वार परम्परा में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हुए थे। आण्डाल स्त्री होने के साथ–साथ वह एक कृष्ण भक्त प्रेम दीवानी भी थी। जिसका जन्मकाल कुछ विद्वान 715 ई0 में श्रीविल्लिपुथुर में हुआ मानते हैं। यह समय चोल वंश का समय था जब आण्डाल का जन्म हुआ। डॉ0 नारग सुन्दरम आण्डाल का समय 715 ई0 का मानते हैं। आण्डाल द्वारा रचित प्रमुख दो ग्रंथ महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं 'तिरुप्पावै' और दूसरा 'नाच्चियार तिरुमोलि'।

'तिरुप्पावै' 'तिरु और 'पावै' शब्दों के मेल से बना है। 'तिरू' का अर्थ है 'श्री' और 'पावै' का अर्थ है 'व्रत' अर्थात् 'श्रीव्रत'। 'तिरुप्पावै' तीस पदों का मुक्तक काव्य है जो पूर्ण रूप से कृष्ण को समर्पित है। यह दोनों ग्रंथ दक्षिण भारत में आज भी कृष्ण की भक्ति और श्रद्धा के प्रतीक बने हुए हैं। इस ग्रंथ में गोपियाँ कृष्ण से मिलने की प्रार्थना करती है और विरह में व्याकुल रहती है। इनका दूसरा ग्रंथ 'नाच्चियार तिरुमोलि' है जो 143 पदों में लिखा गया है। 'नाच्चियार तिरुमोलि'

का अर्थ है–नायिका का वचन। कहा जाता है कि इस ग्रंथ के छठे सुक्त पद में आण्डाल स्वप्न में देखे अपने अलौकिक अनुभवों का अपनी सखी से कहती हैं कि –''हे सखी! मैंने स्वप्न देखा, इन्द्रादि देवगण पधारे हैं। उन्होंने मेरे माता–पिता से प्रार्थना की कि वे अपनी सुपुत्री के साथ श्री मन्नारायण का शुभ–पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न करा दें। स्वयं गिरिजा ने ही विवाह के शुभ अवसर पर अपने हाथों से माला तथा मंत्र वस्त्र पहनाएँ।'' (नाच्चियार तिरूमोलि छठी सूक्ति से) आण्डाल के समस्त पदों में स्वरों की सुन्दर योजना प्रकट हुई है, जहाँ कृष्ण का सौंदर्य उसे अभिभूत करता है, वहाँ वह उनके लावण्य रूप का भी वर्णन करती है। कृष्ण के लौकिक–अलौकिक दोनों रूप वर्णन में आण्डाल पर उपनिषद का प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देता है जिसमें कहा गया है कि–''परमात्मा एक आकर्षक रूप है जो कुसुम रंग वस्त्र, रंगीन कालीन, रेशम के कीड़े, अग्नि की ज्वाला और कमल के समान है। उसका रूप तेजोमय है और गंधयुक्त है।'' (प्रेम की प्रतीतः आण्डाल, मीरा और महादेवी वर्मा, डॉ0 नारग सुन्दरम, पृ0 69)

दक्षिण की मीराँ के नाम से प्रसिद्ध आण्डाल का जन्म 715 ई0 के आस–पास माना जाता है। आण्डाल के जन्म के बारे में डॉ0 नारग सुन्दरम लिखते हैं–''आण्डाल के जन्म के बारे में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि इनका जन्म साधारण रूप से नहीं हुआ। परम वैष्णव भक्त विष्णुचित को अपनी पुष्प वाटिका में तुलसी दल सींचते समय रहस्यमय ढंग से शिशु रूप में आण्डाल प्राप्त हुई थीं। उनका जन्म कुछ वैसे ही हुआ था जैसे प थ्वी–कन्या सीता देवी का, देवी आदेश पाकर शिशु का नाम गोदा रखा गया था। तमिल में 'गोदे' का शब्दार्थ पुष्प के समान कोमल कमनीय होता है।'' (वही, पृ0 49)

आण्डाल तमिल स्त्रियों में प्रसिद्ध ही नहीं है बल्कि आल्वार भक्तों में बड़े आदर भाव से भी उसे देखा जाता था। तमिल भक्ति आन्दोलन में बंधुत्व और समानता एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माने जाते रहे है। जिस प्रकार आल्वार भक्ति परम्परा में शुद्र नम्मालवार, अछूत तिरूअप्पन और स्त्री आण्डाल को प्रमुख स्थान मिला यह उसी का नतीजा है कि आल्वार संस्कृति में समानता और भाईचारे को प्रमुख स्थान पर रखा जाता है। जिस प्रकार आलवारों के अराध्य विष्णु थे और नायनार भक्तों के शिव। दोनों अलग होते हुए भी दोनों में तमिल भक्ति साहित्य में एक दूसरे के प्रति समानता और उदारता का भाव दिखाई देता है। आण्डाल एक स्त्री होते हुए जिस प्रकार कृष्ण को पागलों की तरह प्रेम करती है, उसकी भक्ति करती है। और उसी श्री रंगनाथ के प्रति प्रेम को एवं भक्ति साहित्य और तमिल परम्परा संस्कृति में आण्डाल को खूब सम्मान दिया जाता है। श्री रंगनाथ (नागशय्या पर लेटे विष्णु के दक्षिण भारतीय रूप) का भव्य मंदिर बना हुआ है और आज भी वहाँ पर उनका जन्मोत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता है यह मंदिर चोल वंश के शासन काल में बनवाया गया था। आण्डाल श्रीकृष्ण के मधुर स्वभाव की उपासिका थी। वह श्री कृष्ण या श्री रंगनाथ के सौंदर्य पर अभिभूत है उन्ही

ं के प्रति समर्पित है। कृष्ण के सौंदर्य की चमक तुम्हें घायल कर देती है। वह कृष्ण के श्यामल वर्ण, सुन्दर वस्त्र, लाल–लाल अधरों की आभा उन्हें और रंगनाथ के प्रति आकर्षित करती है। गोपियों के मुख से आण्डाल कहती हैं –

''अंगण्मा आलत्तरशर् अभिमान
भंगमाय् वन्दु निन् पळविळक्क्ट्टिल कीळे
शंगाम्इरूप्पार पोल् वन्दु तलैप्पैय्दोम्
किंकिणि वाय्शेय्द तामरैप् पूप्पोले
शेङगण् शिरूच्चिऱिदे अम्मेल् विळियावो
तिंगव्ळुं आदितियनुं अेव्ळुन्दाऱ्प्पोल
अंगण इरण्डुम कोण्डु अेङ्गळमेल् नोक्कुदियेल्
अंङ्गव्ळमेल् शापं इव्ळिन्देलेर! अेम्‌ पावाय्।।'' (तिरूप्पावै, पद 22, पृ0 54)

अर्थात् सुन्दर–सुन्दर विविध प्रदेशों वाली विशाल भूमि के सार्वभौमिक राजा अपने अभियान छोड़–गोकुल आकर तुम्हारे शयन करने के पलंग के नीचे संघश रहते हैं, वैसे ही व्यक्त–अभिमान ही हम सबके सब यहाँ आकर तुम्हें शिरसा नमस्कार करते हैं। छोटी किंकणी सदृश अर्द्धविकसित कमल पुष्प की भाँति अपने रक्तनयन धीरे–धीरे हमारी ओर अभिमुख होकर खोलो। चन्द्रसुर्य के समान यदि दोनों आँखों से हमारे ऊपर कटाक्ष तीक्षण डालोगे तो हमारे समस्त पाप नष्ट हो जायेंगे।

आण्डाल द्वारा दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रचे गए थे, पहला 'तिरूप्पावै' और दूसरा 'नाच्चियार तिरूमोलि'। तिरूप्पावै तीस पदों का मुक्तक काव्य है जिसमें मार्गशीर्ष व्रत के अनुष्ठान का वर्णन एवं गोपियों की कृष्ण से प्रार्थना का जिक्र किया गया है। 'मीराँ और आण्डाल का तुलनात्मक अध्ययन' पुस्तक में डॉ0 नारग सुन्दरम् तिरूप्पावै में वर्णित विषयों का परिचय इस प्रकार देते हैं– 1. गोपियाँ मार्गशीर्ष व्रत करके इच्छुक जनों को बुलाती हैं। 2. व्रतानु ठान के नियम तथा वर्जनीय कृत्यों का वर्णन करती हैं। 3. व्रत के कारण देश को प्राप्त होने वाला फ़ल बताती हैं। 4. वर्षा के अधिपति पर्जन्य देव से वर्षा के लिए प्रार्थना करती हैं। 5. भगवान् के कीर्तन से व्रत में संभावित बाधाओं की शंकाओं का समाधान बताती हैं। 6. छः से पन्द्रह पदों में गोपियों को जागने का नियम है। 16. सभी गोपियाँ नंद गोप के यहाँ पहुँचकर द्वारपालक से कपाट खोलने की प्रार्थना करती हैं। 17. नंद गोप, यशोदा, कृष्ण और बलराम को जगाते हैं। 18. श्रीकृष्ण की प्रधान नायिका

नपिन्नै को जगाती है। 19–20. गोपियाँ श्रीकृष्ण एवं नपिन्नै को अपनी प्रार्थना सुनने की विनती करती है। नपिन्नै के साथ मिलकर कृष्ण की स्तुति करती हैं। 22. अपना अनन्यार्हत्व प्रकट करती हुई भगवान के कृपा रूपी नेत्रों की प्रार्थना करती हैं। 23. श्रीकृष्ण से सिंह समान जागकर एवं सिंहासन पर आरूढ़ होकर गोपियों की प्रार्थना सुनने की स्तुति करती हैं। 24. सिंहासन पर विराजे श्रीकृष्ण की मंगल स्तुति करती हैं। 25. श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान करती हैं। 26.

व्रतानुष्ठान के लिए शंख भेर्यादि माँगति हैं। 27. व्रत समाप्त होने पर भगवान् से विशेष भेंट की अपेक्षा प्रकट करती हैं। 28. अपने अपराधों के क्षमा करने की प्रार्थना करती हैं। 29. इसमें पूर्व पदों में वर्ण्य विषय की पुनरावृत्ति है तथा पुरुषार्थ का सच्चा स्वरूप प्रकट किया जाता है। 30. फ़लश्रति। 'नाच्चियार तिरूमोलि' ग्रंथ में चौदह दशक हैं जो इस प्रकार हैं

1. प्रथम दशक में कृष्ण के साक्षात्कार के लिए गोदा देवी कामदेव के चरण पकड़ प्रार्थना करती हैं।

2. दूसरे दशक में गोप–गोपियाँ कृष्ण का आगमन न प्राप्त कर सकने के कारण कृष्ण के आने पर मान दिखाते और क्रोध प्रकट करते हैं।

3. तीसरे म ं चीरहरण लीला का मार्मिक चित्रण है।

4. चौथे में गोपियाँ शकुन परीक्षा में यह जानने का प्रयास करती हैं कि कृष्ण से मिलन होगा या नहीं।

5. पाँचवें दशक में गोदा कोकिल के पैरों में पड़कर कृष्ण को बुलाने की प्रार्थना करती है।

6. छठे स्वप्न में देखे गए रंगनाथ के साथ अपने विवाह संस्कार का वर्णन करती है।

7. सातवें में गोदा देवी का ईर्ष्या भाव पाँचजन्य के प्रति प्रकट हुआ है। जो अकेले ही कृष्ण के अधर रस का पान करता रहता है।

8. आठवें में मेघ संदेश का मार्मिक चित्रण है।

9–10–11. गोदा की विरह भावना का वर्णन किया गया है।

12. विरह–वेदना की चरम अवस्था में गोदा देवी अपनी सखियों तथा माता–पिता से कृष्ण के पास पहुँचा देने की प्रार्थना करती है।

13. तेरहवें दशक में कृष्ण से संबंध रखने वाली कोई चीज़ जैसे–तुलसी, पीताम्बर, अधर रस लाकर अपने शरीर में लेपन की प्रार्थना करती है।

14. इसमें कृष्ण से मिलन के आनंद का वर्णन मिलता है।

आण्डाल के पदों में समर्पण का भाव प्रकट होता है। प्रेम की सार्थकता समर्पण में ही मानी जाती है। इस सन्दर्भ में सुशीला अग्रवाल लिखती हैं–आण्डाल शुद्ध जीवों की प्रतिनिधि है। शुद्ध जीव वे हैं, जिन्होंने भगवान् का वरण किया है, जिन्हें अपने परार्थ परतंत्र स्वरूप का बोध हो गया है। जब यह जीव भगवान के दरबार में जाता है, तो लक्ष्मी माता को आगे करके जाने से उसका काम सुगमता से होता है। उसके अपराधों के लिए लक्ष्मी भगवान् से क्षमा करवा कर जीव और भगवान् के बीच मध्यस्थ बनकर 'अपुरुषं पुरुषं करोति' मुक्ति न पा सकनेवालों को मुक्ति दिलवाती है।'' (गोदा कृत–तिरूप्पावै, पृ0 43) कोमल हृदय बालिका आण्डाल का हृदय कृष्ण के रूप–सौंदर्य पर पूरी तरह समर्पित हो गया है। वह सोती जागती उठती बैठती दिन–रात सिर्फ कृष्ण को ही मानती है उसी के रूप सौंदर्य पर अभिशिप्त है। स्वप्न में भी वह अपने प्रियतम के मधुर मिलन से आण्डाल

गद्‌गद्‌ हो जाती है। और स्पष्ट रूप से कहती है कि किसी लौकिक प्राणी के स्पर्श करने मात्र से उसका शरीर अपवित्र हो जायेगा। इस शरीर की सुन्दरता सिफ़ श्री रंगनाथ के लिए ही बनी हुई है। 'नाच्चियार तिरुमोलि' के कुछ पदों का अनुवाद इस प्रकार हैं–''मैं बार–बार दृढ़ता के साथ कहती हूँ कि मेरा यह तन गोविन्द को छोड़कर और किसी को नहीं चाहता है। अतः मुझको यहाँ से शीघ्र विदा कर यमुना किनारे ले जाकर छोड़ दीजिएगा।''

तमिल भक्ति साहित्य में आलवारों एवं नायनारों का समय छठी शताब्दी से लेकर नौंवी शताब्दी के बीच में माना जाता है। तमिल भक्ति साहित्य में साधारण जनजीवन के मन में धार्मिक रूढ़िवाद, जंत्र–मंत्र, जादूटोना, कर्मकाण्ड को लेकर दोनों में एक समान भाव दिखाई देता है। दक्षिण की मीरां के नाम से प्रसिद्ध आण्डाल मीरां की तरह ही कृष्ण की दीवानी भक्त कवयित्री के रूप में पूरे भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। मीरा की तरह ही आण्डाल के मन में भी स्वतंत्र मन से प्रेम की भावना दिखाई देती है। एक जगह स्वयं आण्डाल अपनी रचना में कहती हैं–''सुनो तुम, मैं आना चाहती हूँ अल्लसुबह शरणागत होने और तुम्हारे स्वर्ण कमलवत पैरों में श्रद्धा निर्वेदित करने। तुम्हारा जन्म चरवाहों के बीच हुआ था। हे गोविंद! तुम हमारी सेवा ग्रहण किए बिना दूर नहीं जा सकते हमसे।

आण्डाल एक स्त्री होते हुए ज्ञानी, समझदार और शिक्षित थी। उनके पास साहित्यिक समझ भी थी। कम उम्र में ही उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ भी लिखी। उस समय की अंधविश्वासी अज्ञानी सामाजिक परम्परों के खिलाफ़ डटकर विरोध भी किया और निर्भयता के साथ अपना संघर्ष भी अनवरत रूप से जारी रखा। 'भक्ति आन्दोलन और उत्तर–धार्मिक संकट' पुस्तक में शंभुनाथ जी लिखते हैं कि–''अंडाल (8वीं सदी) स्त्री आलवार हैं। इन्हें गोदा भी कहा गया। आधुनिक युग में इन पर काफ़ी चर्चा हुई है। वे जन्म के बाद रास्ते पर पड़ी मिली थीं। पेरिय आलवार ने उनका लालन–पोषण किया था।

नायनारों संतों की तरह आलवार भक्ति साहित्य में भी उच्च–निम्न जातियों से लोग आए थे। जिस तरह तिरुअप्पन अछूत थे और आण्डाल स्त्री के रूप में थी। आलवार संत भक्त भागवत पुराण से भी अच्छे खासे प्रभावित दिखाई देते हैं। नम्मालवार प्रसिद्ध आलवार वैष्णव संत थे इनके पदों में आध्यात्मिकता के भाव के साथ–साथ अपेक्षाओं, पीड़ाओं का दर्द तथा तमाम सामाजिक विसंगतियों के बंधन से छुटकारा पाने का संकल्प भाव है। स्वयं नम्मालवार अपनी एक रचना में लिखता हैं–''प्रभु! अनंत हैं तुम्हारी महिमा। मेरी आध्यात्मिकता अब पक गई है। मैं तुम्हारे अनुग्रह की आशा में हूँ। अहं को त्याग दिया है। होना नहीं चाहता जीवन से मुक्त और न ही तुम्हारे बैकुंठ का होना चाहता हूँ सेवक। एक ही संपत्ति चाहता हूँ तुम्हें भी कभी न भूलं। '' नम्मालवार सब कुछ अपना भगवान को मानकर अपने जीवन की मोक्ष या मुक्ति उसी आध्यात्मिकता में देखता है।

वैष्णव आलवार भक्ति परम्परा में आण्डाल तमिल स्त्री जाति में ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय संत स्त्री के रूप में एक लोकप्रिय नाम से प्रचलित है। आण्डाल के पदों में यौवनता और शृंगार का चित्रण खुले रूप से स्वतन्त्र होकर कृष्ण–प्रेम की देह की स्वतंत्रता को अपने अधिकार पूर्वक एक जगह कहती हैं–"मेरा यह सौंदर्य भगवान श्री रंगनाथ के लिए ही है। उसी के उपभोग्य यह तन है, साधारण मनुष्य के लिए नहीं है किसी मनुष्य के छूने का प्रस्ताव मात्र मैं सुनकर ही मैं जीवित न रह सकूँगी। मुझे मेरे गोविन्द से मिला दो।"

आण्डाल का कृष्ण के प्रति प्रेम मीरां की तरह अपने आराध्य की दासी बनकर या चाकरी बनकर प्रकट नहीं होता है बल्कि एक समर्पण भाव के रूप में उत्पन्न होता है। आण्डाल का प्रेम रंगनाथ (गोविन्द) के प्रति माधुर्यभाव का था जिसको पूर्ण रूप से अपने प्रियतम कृष्ण के चरणों में समर्पित कर देती है। आण्डाल के बारे में उपासना रंगनाथ अपनी पुस्तक 'जर्नल ऑफ इंटरडिसेप्लेनरी स्टडीज' में लिखती हैं कि–"उनकी विरासत एक ऐसी स्त्री की है, जो विचारों से स्वतंत्र थी और विवाह जैसी संस्थाओं में उनका विश्वास नहीं था। वे ईश्वर को अपने बराबर समझती हैं और उनके साथ सायुज्यता स्थापित करने में सफल होती हैं। उनकी कविताओं में उनकी तीव्र इच्छाओं के बिंब है।

निष्कर्षतः कहा जाता है कि मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का उद्‌भव और प्रेरक के रूप में हम श्री रामानुजाचार्य को ही मानते हैं और उसी परम्परा में आगे चलकर सूर, तुलसी और मीरा को भी देखते रहे हैं। इस परम्परा में भक्ति का जो बीज अंकुरित हुआ वह आल्वार संतों से ही किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। आलवारों संतों को मुख्यतः वैष्णव भक्त परम्परा के उपासक के रूप में भी देखा जाता रहा है जिसमें बारह आलवार संतों में बुद्धिजीवी स्त्री भक्त कवयित्री के रूप में आण्डाल का भी नाम प्रमुखता से लिया जाता है। आलवार संतों में आज आण्डाल को जितना यश और आदर मिला हुआ है उतना शायद किसी अन्य आलवार संत भक्त को नहीं। आण्डाल का प्रेम मीरां की तरह श्री रंगनाथ (गोविन्द) के प्रति माधुर्य रूप में प्रकट होता है। आण्डाल का प्रेम कृष्ण के प्रति समर्पण का प्रेम है जिसको वह कभी कामदेव से, कभी मयूरों से, कभी बादलों से कभी कोयलों से, कभी प्रकृति से अपने प्रियतम से मिलाने का निवेदन करती है और उनको तरह तरह का लालच भी देती है। आण्डाल की भक्ति में दैन्य, समर्पण, आत्मनिवेदन, विवशता एवं आध्यात्मिकता का वर्णन बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। इसलिए आण्डाल तमिल भक्ति साहित्य की द्रविड़ परम्परा में ही नहीं पूरे भारतीय साहित्य की मध्यकालीन भक्ति परम्परा में अपना एक श्रेष्ठ स्थान रखती है। आज भी मध्यकालीन भक्ति साहित्य की स्त्री संतों में बड़े आदर और सम्मान के साथ आण्डाल का नाम लिया जाता है।

■

सृजन–विमर्श

कहानीकार बलराम

करुणाशंकर उपाध्याय *

बलराम वर्तमान दौर के एक अत्यंत महत्वपूर्ण कथाकार हैं। इनकी अब तक लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं,जिनमें से अधिकांश कहानी संग्रह हैं। इनको पढ़ते समय प्रेमचंद और रेणु की कथा परंपरा का स्वाभाविक विकास अथवा उनकी पुनर्नवता का अहसास होता है।बलराम जी अपनी कहानियों के माध्यम से मनुष्य के भीतर की छटपटाहट, उसके दैनंदिन संघर्ष, दिनों–दिन क्षीण होते जा रहे मानवीय मूल्यों और संबंधों की ऊष्मा और जीवन एवं जगत के बहुस्तरीय यथार्थ का सजीव चित्रण करते हैं। इनकी कहानियों के नायक सामान्य मनुष्य अथवा जनसाधारण है जो अपने छोटे–मोटे सपनों को पूरा करने के लिए संघर्षरत है। इनकी कहानियां ऐसे संघर्षशील चरित नायकों की सृष्टि करती हैं जो विपरीत परिस्थितियों में भी देश और समाज के समक्ष एक आदर्श मिसाल बन जाते हैं। आपका विपुल अध्ययन, सूक्ष्म लोकनिरीक्षण और संवेदनात्मक कोष सर्वत्र मौलिकता एवं नूतनता की सृष्टि करता है। आपका कथा लेखन हमारे आस–पास के जीवन के ऐसे संदर्भों को पुनःसृजित करता है जिससे होकर हम प्रायः गुजरते हैं परन्तु उसपर ठहरने के बजाय आगे निकल जाते हैं। इनकी कहानियां जीवन और समाज के प्रति बहुमुखी सतर्कता बरतती हैं। फलस्वरूप इनके का दायरा संकुचित न होकर संपूर्ण मानव परिवेश है। यह उसके लिए एक अनिवार्य वातावरण निर्मित करते हुए कथाकार के जिज्ञासु स्वभाव को सोच–विचार और सर्जनात्मक प्रतिक्रिया का सुअवसर देता है।

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास से बलराम की संकलित कहानियां प्रकाशित हुई हैं जिनमें कुल 20 कहानियों का समावेश है। इन कहानियों का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य गांव और शहर के मध्य आवा–जाही है। ये दोनों के बीच अंतराल का विस्तार करने के बजाय सेतु निर्मित करते हैं जो इनके गहन दायित्वबोध का परिचायक है। इस संकलन की पहली कहानी 'फर्क' शीर्षक से है जिसमें समाज की भोथरी हो रही संवेदना को एक महिला की अर्थी की सापेक्षता में उद्घाटित किया गया है। इसमें ग्रामीण संवेदना की स्वाभाविकता और शहरी संवेदना का भोथरापन

* संपर्क – श्री करुणाशंकर उपाध्याय, वरिष्ठ प्रोफेसर, हिंदी विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई–400098, मो. 9167931043

तुलनात्मक संदर्भ के साथ प्रस्तुत हुआ है। इसके उपरांत दूसरी कहानी 'चोट' संवेदना की अनूठी छुवन से अनुप्राणित है। यह कथाकार की विकसित जीवन–दृष्टि का उदाहरण है। चूंकि कथाकार ग्रामीण परिवेश से निकलकर दिल्ली जैसे महानगर की जीवन स्थितियों को आत्मसात कर रहा है फलस्वरूप इस संकलन की अधिकांश कहानियों में गांव और शहर का तुलनात्मक संदर्भ प्रस्तुत हुआ है। 'इलाज' कहानी भी इसी जीवन दृष्टि और संवेदना का अगला पड़ाव है। इसमें सरकारी और निजी डॉक्टरों के उपचार की पद्धति का आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषण हुआ है। इसमें लेखक का संकेत है कि गांव के वे चिकित्सक जो कम पैसे में ग्रामीण जनता का इलाज वहां उपलब्ध संसाधनों के आधार पर कर रहे हैं और प्राकृतिक चिकित्सा का उन्हें न्यूनतम प्रशिक्षण देकर स्वावलंबन प्रदान कर रहे हैं, वे बेहतर हैं। इस तरह लेखक गांव की अवशिष्ट संवेदना का पक्ष लेकर प्रकारांतर से मनुष्यता का भी उन्नयन करता है।

कथाकार बलराम का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि ये समय के बदलते परिदृश्य के साथ मानवीय संबंधों की प्रगाढ़ता और रिश्तों की ऊष्मा का भी बखूबी चित्रण करते हैं। इनकी कहानियाँ पात्रों की मनरू स्थिति ,संबंधों की घनिष्ठता और आत्मीयतापूर्ण मधुर संबंधों के रससिक्त चित्रण के कारण बेहद पठनीय हैं। जब कहानी के क्षेत्र में अनगिनत प्रयोग के नाम पर उसके कथ्य के स्वरूप के साथ खिलवाड हो रहा हो तो कहानी पन को बचाए रखकर बलराम जी उल्लेखनीय कार्य कर रहे हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत संकलन की सारी कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। इनकी गोआ में तुम शीर्षक कहानी मिसकैरेज और वंध्यापन से पीड़ित स्त्री की मनोदशा तथा संघर्ष चेतना को नए ढंग से चित्रित करती है। इसी तरह शिक्षाकाल कहानी लोकजगत और ग्रामीण जीवन के दैनंदिन रूप के माध्यम से एक सुपरिचित परिवेश का पुनर्नवीकरण करती है। बलराम जी अतिशय सहजता के साथ अपने कहानीपन की रक्षा करते हुए पाठकों को जोड लेते हैं। ये कहानियाँ अपनी वस्तुयोजना, शिल्प विधान और प्रस्तुति के धरातल पर पाठकों से सीधा संवाद स्थापित कर लेती हैं। इस संकलन की एक महत्वपूर्ण कहानी 'पालनहारे' है। इसमें लोकजीवन में व्याप्त राजा मोरध्वज की पौराणिक कथा का लोकरूप, ऋषि दुर्वासा के श्राप के कारण सगरा ताल का सूखना और उनके हरकारे का भूत प्रेत बनने की अंधविश्वास भरी किंवदन्ती तथा उस भूत प्रेत के पशु–पक्षी इत्यादि किसी भी रूप में दिखाई पड़ना सबकुछ बड़े रोचक और कौतूहलपूर्ण अंदाज में प्रस्तुत हुआ है। फलस्वरूप हेमू और उसके दोस्तों का मेमने को भूत समझकर भागना, फिर चाकू के बलपर उसका कान पकड़ने का साहस और कान पकड़ने के बाद वास्तविक मेमना समझ उसे घर लाकर पालतू बनाना–– यह सब बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत हुआ है। यह ग्रामीण जीवन का एक सामान्य यथार्थ है लेकिन कथाकार ने जिस विश्वसनीय तरीके से उसे प्रस्तुत किया है वह अत्यंत पठनीय और जीवंत है। यह भी सर्वविदित है कि ग्रामांचल में प्रकृति, पेड–पल्लव, पशु–पक्षी के प्रति जन–मन की गहरी अंतरंगता होती है जिसे लेखक हेमू के

माध्यम से चित्रित करता है। यहां एक पालतू पशु के साथ गांव के किशोर मन का आत्यंतिक जुड़ाव मानवीयता का विस्तार करता है परंतु बुद्धन कसाई के कर्ज के कारण हेमू के बप्पा द्वारा मेमने को उसके हवाले किए जाने, हेमू द्वारा प्रतिकार किए जाने पर थप्पड़ का पुरस्कार–– यह सब मिलकर ग्रामीण परिवेश के सुपरिचित यथार्थ और कठिन जीवन स्थितियों से उत्पन्न होने वाली अमानवीयता को एक संश्लिष्ट और परिपूर्ण बिम्ब प्रदान करते हैं। लेखक कहानी के अंत में एक मध्यवर्गीय परिवार के आर्थिक संघर्ष का जो चित्र प्रस्तुत करता है, वह अतिशय मार्मिक है। वह लिखता है कि, ''अम्मा की बात सुनते हुए हेमू की नजर चौपाल में टंगी तस्वीर पर जा अटकी, जिसमें राजा मोरध्वज रानी के साथ आरे से बेटे को काट रहे हैं। और फिर कुछ पल बाद हेमू की नजर नीचे गई तो उसने देखा : अम्मा के पैर खाली हैं, उनकी पायलें भी सुनार के घर पहुंच गई हैं।'' इस तरह लेखक एक पौराणिक संकेत द्वारा ग्रामीण जीवन के भयावह यथार्थ का अत्यंत दारुण चित्रण किया है।

मनुष्य का जीवन परिस्थितियों से कैसे संचालित होता है ,इसे 'सामना' कहानी में देखा जा सकता है। इसमें कपड़ा मिलों के बंद होने से फैली बेरोजगारी और छोटे–मोटे धंधे करने तथा भटकने के लिए अभिशप्त मजदूरों की यातना का भी निर्वचन किया गया है। इस कहानी में ग्रामीण बेरोजगार युवक अपने मित्र के बहकावे में आकर शहर में सुरक्षित नौकरी तो नहीं पाता, इसके विपरीत उसके बखार में जो साल भर का अनाज रखा हुआ था– वह उससे भी वंचित हो जाता है। बलराम जी लोकसंवेदना के चतुर–चितेरे हैं। फलतः इनकी सर्जनात्मक कथा भाषा लोकसंवेदना को रूपायित करने के लिए बोलियों की छौंक का भी सहारा लेती है। यह लेखक के कथा–विवेक का परिचायक है। इनकी कहानियों का पाठ कथा–दृश्यों और उनमें प्रयुक्त शब्दों के गहरे संकेतों द्वारा ही संभव है। इस दृष्टि से 'पालनहारे', 'सामना' और 'कामरेड' कहानी प्रेमचंद एवं रेणु की कथा संवेदना का पुनराविष्कार है।

इसी क्रम में इनकी एक छोटी किन्तु अलग भाव–बोध की कहानी 'रुकी हुई हंसिनी' शीर्षक से आती है जिसमें प्रेम की आंतरिक ऊष्मा के साथ कर्तव्य निर्वाह के द्वंद्व का अत्यंत मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। इसमें लेखक अपने जीवनानुभव को कथा–अनुभव में रूपायित करते हुए कतिपय सूक्ति परक वाक्यों की सृष्टि कर जाता है जो जयशंकर प्रसाद और जैनेंद्र का स्मरण कराते हैं। इस दृष्टि से – 'सच्चे संबंध एकतरफा ही होते हैं और वे निभाए भी एकतरफा ही जाते हैं, जीवन में लौटकर ही सृजन संभव है, कुछ रचो ताकि बचो'– जैसे वाक्य स्थायी महत्व के बन पड़े हैं। इसी तरह– 'आदमी तो आदमी, हम पत्थर को भी भगवान मानकर पूजने वाले लोग हैं,' हर दिन को एक पूरा जीवन समझो, हर मुलाकात को आखिरी मुलाकात और उसे भरपूर जी लो'– जैसे वाक्य अपने महत्व का स्वतरू प्रतिपादन कर रहे हैं। बलराम जी अपनी कहानियों में सामाजिक सरोकार, मनोवैज्ञानिक स्थितियों, कलात्मक संवाद और भाषिक सहजता का सर्वत्र ध्यान रखते हैं। इस कारण शिल्पगत सहजता

इनकी कहानियों का अप्रतिम वैशिष्ट्य है। प्रस्तुत संकलन की' मालिक के मित्र, कोशिश, अंधेरा, अवाक और मृगजल जैसी कहानियाँ व्यक्ति एवं समाज के विशिष्ट संदर्भ तथा अनुभव की तात्कालिकता में भी मार्मिक हैं।

प्रस्तुत संकलन की सबसे छोटी किंतु मार्मिक कहानी 'मृगजल' शीर्षक से है जिसमें लेखक एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार द्वारा अपने बेटे को महानगर में उच्च शिक्षा हेतु भेजने, उसके अध्ययन के लिए पूरे परिवार के सुख–चैन की कुर्बानी और उस युवक पर शहरी हवा के प्रभाव में अपने परिवार के संघर्ष के पैसों से ऐयाशी की ओर उन्मुख होना जैसे सुपरिचित संदर्भ ग्रामीण परिवार के उठते–गिरते जीवन की त्रासदी को और भी गहरा देते हैं। लेखक युवापीढ़ी की स्वार्थपरता और ग्रामीण जीवन की व्यथा–कथा के तनाव का बेहद मार्मिक चित्रण करता है। यह कहानी ग्रामीण और शहरी संवेदना का तुलनात्मक संदर्भ भी प्रस्तुत कर देती है। इसमें 'मान गई बाबा' शीर्षक से एक प्रयोगशील कहानी भी है जिसमें दूरभाष पर होने वाले संवाद के माध्यम से संपूर्ण कहानी को रूपाकार मिला है। यह इस बात का द्योतक है कि बलराम जी कथा शिल्प के प्रति भी सचेत हैं। इस संकलन की अंतिम कहानी 'उसने देखा' शीर्षक से अनिल और सीमा की एक सफल प्रेम कहानी है। बलरामजी बदलते संदर्भों के अनुरूप पात्रों की मनरू स्थिति के चित्रांकन में प्रवीण हैं। इन्होंने स्वयं को एक सिद्वहस्त कथाकार के रूप में विकसित किया है। इनकी कहानियाँ कम–से–कम समय लेकर पाठक को अधिक–से–अधिक देने का उपक्रम करती हैं। लेखक अनुकूल भाषिक प्रयोग द्वारा कथ्य को रोचक और संप्रेषणीय बनाता है।

सारांश यह है कि बलराम की कहानियों की विषय वस्तु और पात्र हमारे आस–पास एवं जाने–पहचाने परिवेश के हैं जिनमें ग्रामीण जीवन के गिरते पड़ते, टूटते–बनते, जीते–मरते जन समुदाय और शहरी परिवेश की चकाचौंध से बहाने बदलते समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले भी हैं। लेखक दोनों प्रकार के जीवन संघर्षों और परिवर्तित स्थितियों का भी निर्वचन करता चला है। बलराम जी अपने कथ्य और चरित्र को अपनी दृष्टि और रचनात्मक प्रतिभा से निर्मित करते हैं। इन्होंने अपनी संकलित कहानियों में गांव और शहर दोनों के ही सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक और शैक्षणिक यथार्थ के अंतर्विरोधों एवं उस संघर्ष के भीतर क्रियाशील मनुष्य के मन की बुनावट को अभिव्यक्ति के विविध रूपों से निर्मित किया है। इनका एक बड़ वैशिष्ट्य यह भी है कि इन्होंने न तो शिल्प की उपेक्षा की है और न ही शिल्प को ही सबकुछ मान लिया है। फलस्वरूप यहाँ कहानीपन की रक्षा करते हुए वस्तुविधान की नवीनता का प्रादर्श उपस्थित हुआ है। बलराम का कथाकार अपनी प्रशस्त दृष्टि, संवेदनशीलता और सर्जनात्मक पाठ–वितान द्वारा सामान्य स्थिति, घटना एवं पात्र को एक गहरा तथा व्यापक अर्थ दे देता है। इस कारण इनकी कहानियाँ समकालीन हिंदी कथा साहित्य का एक अनमोल पृष्ठ हैं। आप अभी भी रचनारत हैं और एक बड़ी संभावना लेकर चल रहे हैं।

■

आल्हखण्ड की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना

छाया सिन्हा *

भारतीय विशेषतः बुन्देलखण्डी समाज और उसकी संस्कृति को सशक्त रूप से अभिव्यक्त करनेवाली अमूल्य रचनाओं में 'आल्हखण्ड' का स्थान विशिष्ट है। इसे 'परमालरासो' का विकसित रूप माना जाता है। लोक गेय काव्य होने के कारण इसके मूल रूप की पूर्ण सुरक्षा नहीं हो सकी है। 1865 ई० में चार्ल्स इलियट ने जिस आल्हखण्ड का प्रकाशन कराया था, वह उसकी तत्कालीन मौखिक परम्परा पर ही आधारित है। इसका रचयिता जगनिक कवि है जो महोबा के राजा परमर्दिदेव 'परमाल' का राज्याश्रित था। महोबा हमीरपुर का एक कसबा था जो हिन्दूकाल में चंदेल राजाओं की राजधानी हुआ करता था। यह आल्हखण्ड लोक की वैसी बहुमूल्य थाती है जो आजतक जनसामान्य का कण्ठहार बनी हुई है। इसमें तत्कालीन लोकजीवन एवं उसके मनोरम सांस्कृतिक वैभव की झाँकियाँ सर्वत्र झलक मारती रहती हैं, इसके ओजदीप्त साज शृंगार–गीत आज भी समस्त उत्तर भारत के गाँव–गाँव में वर्षा ऋतु में गाये जाते हैं। आल्हखण्ड की प्रस्तावना में इसका उल्लेख भी है–

वर्षा ऋतु में समय पाय सब, आल्ह पढ़त सुनत मन लाय।[1]

यह सच है कि आल्हखण्ड को जीवित रखने का पूरा श्रेय उन अनपढ़ या अल्पपठित अल्हैतों को जाता है जो पूरी तन्मयता के साथ इस वीरकाव्य को जो विशेषतः वर्षा ऋतु में गाते हैं और अपनी–अपनी रचनाशीलता के अनुसार इसके कलेवर में जाने–अनजाने परिवर्तन करते चलते हैं। वैसे तो 1919 में बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित 'परमालरासो' के अतिरिक्त वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'बड़ा आल्हखण्ड, आल्हा–उदल ऑफ यू.पी.' का हिन्दी संस्करण, ललित प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित आल्हखण्ड जैसी कई प्रतियाँ आल्हखण्ड की मिलती है; इधर इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कलाकेन्द्र द्वारा भी 'आल्हखण्ड' से सम्बधित दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, किन्तु उनका महत्त्व पाठालोचन की दृष्टि से ही है। मजे की बात यह है कि उन सभी प्रतियों में तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का मेरुदण्ड समान रूप से सुरक्षित है।

* लेखिका पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय में मानविकी संकायाध्यक्ष सह हिन्दी विभाग की अध्यक्ष हैं। संपर्क : ए. 3/1, न्यू अलकापुरी, अनीसाबाद, पटना– 800002, मो.– 9835437822

यद्यपि इस रचना में मुख्य रूप से परमर्दिदेव के दो धर्मवीर और कर्मवीर सामंतों–आल्हा और ऊदल के वीरतापूर्वा युद्धों का चित्रण है तथापि मौखिक परम्परा में निरन्तर विकसित होते जाने के कारण इसकी कथा में पुरातन एवं नवीन–दोनों युगों का समाज अपने पूरे साज–सम्भार के साथ प्रकट होता आया है। लेकिन चूँकि इसका रचनाकाल तेरहवीं शती का आरम्भ माना जाता है, अतः उसी काल के समाज और उसकी संस्कृति को प्रधानता मिली है।

काव्य में बढ़ते घटनाक्रम से ज्ञात होता है कि उस समय भारत छोटे–छोटे खण्डों में बँटा था और राजागण आपस में ही लड़ते–भिड़ते रहते थे। युद्ध के कारणों में राजपूती अकड़, आपसी वैर तथा सीमा विवाद तो थे ही, ज्यादातर युद्ध के केन्द्र में कोई–न–कोई स्त्री होती थी। तत्कालीन समाज में यह बात आम थी –

'जेही घर बेटि क्वाँरि देखी, तेही घर जाय धरे हथियार।'

अतः क्षत्रियों से लेकर दोने–पत्तल बनानेवाले बारियों तक में बिना युद्ध के विवाह सम्पन्न होना अचरज की बात थी।

आल्हा मे महोबा, माड़ौगढ़, सिरसागढ़, नैनागढ़, पथरीगढ़, दिल्ली, नरवरगढ़, कमायूगढ़, बलबुखारे, पथरियाकोट, सिंहलद्वीप, बूँदी, कटक आदि की बावन लडाइयों का में बड़े विस्तार से वर्णनात्मक चित्रण हुआ है। माड़ौगढ की लड़ाई में अस्त्र–शस्त्रों के चलने की धवन्यर्थ व्यंजना मन मुग्ध कर देती है :–

अरर, अररर गोली छूटै, सरसर परी तीर की मारु।
सनन सनन गोली छूटै, करकर करै अगिनियाँ बान।[2]

रणभूमि में जाने से पहले वीरों के साथ–साथ हाथी–घोड़ों आदि की बेहतरीन सजावट की जाती थी :–

भई सजावट है हाथिन की तिनकी सुनो हकीकत आय।
झूले हैं जर्कस की न्यारी, झालरि तिनमें दई लगाय।।
हौदा लटकत हैं रेशम के झब्बा मोतिन के लगवाय।
ऊपर हौदा धरे सुनहरी, कछु चाँदी के दिये धरवाय।।
सब घोड़न को सजवायो तिनपे जीन दियो धरवाय।
शिर पर कलंगी है रतनन की ऊपर तंग दिये खिंचवाय।।[3]

इन राजाओं की सेनाएँ पूर्णतः प्रशिक्षित थीं और उनमें एक अनोखा अनुशासन था–

बजो नगारा जब लश्कर में क्षत्रिन सबै भये हुशियार।
पहिले डंका के जिनबन्दी दुसरे बाँधि लिये हथियार।।
तिसरे डंका के बाजत खन क्षत्रिन धरे रकाबन पाय।
चौथे डंका के बाजत खन लश्कर चला बनाफर क्यार।।[4]

युद्ध स्थल के बड़े जीवन्त बिम्बात्मक दम्भय भी आल्हा में दिखलायी पड़ते हैं–

जेहि हाथी के गोला लागै, दल में डौंकि डौंकि रहि जाय।

जौन ऊँट के गोला लागै, सो गिरि परे चकत्ता खाय।।
गोला लागे जेहि क्षत्री के ताकी त्वचा स्वर्ग मंडराय।
गोल जंजिरहा जेहि के लागे ताके हाड़ मांस छुटि जाय।।[5]

गुत्थमगुत्थ युद्ध के गत्यात्मक नजारों से तो आल्हखण्ड भरा पड़ा है–

पैदल अभिरि गये पैदल संग औ असवारन ते असवार।
हौदा मिलिगे हैं हौदन संग हाथिन अड़ौ दाँत से दाँत।।
अँटके डंडा अम्बारिन के ऊपर पेश कब्ज की मारु।
चारि घरी भरि भई लड़ाई औ बहि चली रक्त की धारु।।[6]

सैन्य सुरक्षा की दृष्टि से कालिंजर, महोबा, कन्नौज, सिरसागढ़, माड़ौगढ, बौरीगढ़, नरवरगढ़, नैनागढ़ और पथरीगढ़ के दुर्ग अद्भुत थे। सिरसागढ़ के दुर्भेद्य दुर्ग की चाकचौबन्द सुरक्षा–व्यवस्था तो देखते ही बनती है–

अथल अगम खाई के निरखत डूबो जात लज्जि पाताल।
खाई क्या गढ़ की रखवारी, लहरै बदन पसारे ब्याल।।
तीन द्वार गढ़ के रखवाये तिन पैं बज्र लगे हैं डाटि।
रक्षा हेत द्वार वीरन ने धरि दिये द्वार शिखर गिरि काटि।।[7]

युद्ध में हाथी–घोड़ों के साथ पैदल सैनिक भी होते थे। सांड़ों और बैलों का इस्तेमाल माल–असबाब ढोने के लिए किया जाता था। हाथी भी प्रशिक्षित होते थे और वे शत्रुओं की व्यूह रचना को तोड़कर हर प्रकार के सैनिकों को तितर–बितर कर देने की कला में माहिर थे। आल्हा के हाथी–पंचशावद की तो बात ही अलग थी। अपने इस हाथी की वीरता और स्वामिभक्ति पर आल्हा का अटूट विश्वास था–

खोलि जंजीर दई आल्हा ने, पचशावद को दइ पुकराय।
बैरी समुहे यहु ठाढ़ो है, याको लेइ जंजीरन बाँधि।।
सांकल फेरी तब हाथी ने सब दल रेन बेन ह्वइ जाय।
भगे सिपाही अभिनन्दन के, अपने डारि डारि हथियार।।[8]

युद्ध की साज–सज्जा में अस्त्र–शस्त्र विशेष महत्व रखते हैं। तलवार, कटार, भाले, धनुष–बाण आदि के वर्णन के साथ–साथ आधुनिक परिवेश के भी समाविष्ट हो जाने के कारण तोप, बन्दूक, किरिच, पिस्तौल आदि भी कालान्तर में इस काव्य के अन्तर्गत प्रवेश पाते चले गये हैं :–

दोनों फौजन के संगम में अन्धाधुन्ध तोप के मारु।
कोई कोई मारै बन्दूकन ते, कोई कोई देय सेल के घाव।।[9]

जाति–व्यवस्था की दृष्टि से चन्देलकालीन समाज में क्षत्रिय और बाह्मणों की प्रधानता थी। सभी जाति के लोग राजपूतों को पौरुषयुक्त मानते थे। बलवान वीर को बाघ और नागवीर की संज्ञा दी जाती थी। वीरपुत्र की माता सिंहनी कहलाती थी और समाज में यह विश्वास प्रचलित था कि भात्रु सिंहनी के पुत्र का कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

चूँकि हमारी संस्कृति में परस्पर सद्भाव, सम्मान, सहिष्णुता जैसे मानवीय गुणों को अनिवार्य माना गया है, इसलिए ऊँच–नीच की भावना के बावजूद जाति आधारित इस समाज में सौहार्द व्याप्त था। उदाहरणस्वरूप अपने सेवकों के प्रति कही गयी ऊदल (ऊदनि) की यह पंक्ति द्रष्टव्य है–

नौकर चाकर तुम नाही हौ, तुम सब भैया लगो हमार।।[10]

साम्प्रदायिक सद्भाव की दृष्टि से भी यह काल महत्त्वपूर्ण है। क्या हिन्दू और क्या मुसलमान–सब रणबाँकुरे जान लड़ाकर अपने राजा के लिए युद्ध में सोत्साह कूद पड़ते थे।

गंग कीन्हीं सब हिन्दुन ने औ तुर्कन की उठी कुरान।
हम ना भगिहैं रण समुहे से, चाहे प्राण रहे कि जाय।।[11]

किसी का नमक खाकर और पानी पीकर उसकी पूर्ति न करना अपनी संस्कृति के विरुद्ध माना जाता था। मलिखा अपने सैनिकों से कहता है–

निमक हमारो तुम खायो है, अब गाढ़े में आवौ काम।
लज्जा राखि लेउ हमरी तुम अबहीं चलो हमारे साथ।।[12]

क्षत्रियों को युद्ध की रीति–नीति का पालन भी सख्ती और मानवीय मूल्यों के साथ करना होता था –

रीति नीति से जो कोउ बर्ते ताकि कबहुँ होय नहिं हार।
हा हा खाते को ना मारे ना तिरिया पर डारे हाथ।।
बालक बूढ़े को ना मारै ना भागे के परै पिछार।
पहिली चोट करै कबहुँ ना, ना निर्बल पर करै प्रहार।।
ताको मारै ना काहूबिधि, जाके पास नाहि हथियार।

पाँव पिछारु को न हटावै, ताकी जीति होय सब काल।।[13]

युद्धों में अलौकिक सत्ता की अहमियत तो थी ही, जादूगरी भी हथियारों के समकक्ष मानी जाती थी। जादुई पुड़िया मारकर भात्रुदल को तितर–बितर कर देने और आल्हा जैसे महावीरों को भी नजरबन्द कर देने जैसी घटनाओं का जिक्र आल्हखण्ड में है–

जादूवाली पुड़िया लै के पहुँची तुरत फौज में जाय।
मर्द कि सूरति बिजमा होइ गइ जादू गुड़वा लियो दबाय।।
भैरों वाली पुड़िया लैके, सो आल्हा पर दई झुकाय।
नजर बन्द भई तब आल्हा की औ फिरि जीन बन्द होई जाय।।[14]

जादू उतारने की कला भी समाज में प्रचलित थी–

गुरू झिलमिला की मठिया में, मेढ़ा बाँधि दियो तत्काल।
जादू फेरि लियो लश्कर से जादू उतरि गई तत्काल।।[15]

जादू–टोने की तरह ज्योतिष शास्त्र का भी महत्त्व समाज में बना हुआ था–

इतनी सुनके पंडित बोले, गिनिके मीन मेश बतलाय।
साढे साती पड़ै सनीचर अठयें पड़ी बृहस्पत्ति आय।।
अब ना बचिहौं रणखेतन में, समुहे काल बिराजो आय।[16]

अतः यह निर्विवाद है कि अल्हैतों की वाणी में चन्देलकालीन समाज और सांस्कृतिक वैभव अपनी समस्त छटा के साथ प्रकट हुआ है। किम्वदन्ती है कि चन्देलीनगर के चन्द्रवंशी महाराज चन्द्रब्राह्म से प्रसन्न होकर चन्द्रमा ने उन्हें पारसमणि दी थी। मल्हना का यह कथन कि ''ऐसा पत्थर है हमरे घर लोहा छुवत सोना होइ जाय।''[17]

महोबावासियों के अकूत वैभव का पता देता है।

कला की दृष्टि से यह काल स्वर्णिम रहा है। बुन्देलखण्ड के नगरों की शोभा में तत्कालीन स्थापत्य का उत्कर्श देखते ही बनता है–

करी सजावट सब नगरी की चौपड़ हाट दीन्ह सजवाय।
फिर एक किला नया बनवाया, सुन्दर रत्नजरित सब धाम।।
नाना भवन विविध रंगरचना, मानहुँ इन्द्रकेर सब ठाम।
चौसठि बुर्ज चारि नवखण्डी, जिनपै बैठि स्वर्ग दिखलाय।।[18]

चाक्षुष और घ्राण बिम्बों से सुसज्जित वैभवशाली रंगमहलों की नफासत और नजाकत की तो बात ही क्या है–

रंगमहल देखौ जम्बे की, जोगी बहुत खुशी होय जायँ।
मलयागिरि की लगि खिरकियाँ चन्दन महकि महकि रहि जायँ।।
जहाँ झकोर लेयं झंझरिन से सुन्दर मन्द सुगंध बयारि।
हंस हिलोर लेयं सागर पर और छज्जन पर नाचै मोर।।
खम्भा लागे रतन जड़ाऊ छौनी मोरपंख की लागि।
रंग–बिरंगे सतखण्डा हैं, बनता बरन करी ना जाय।।[19]

यहाँ के विविधि मन्दिर, सरोवर और दुर्भेद्य दुर्ग भी इस बात के साक्षी हैं। इन राजाओं के वैभवशाली राजभवन में सुदृढ़ न्यायालय की भी व्यवस्था थी–

न्यारे राजभवन भारतखण्डा, न्यारी न्यायनिवारण शाल।[20]

आल्हखण्ड से ज्ञात होता है कि विविध मांगलिक अवसरों पर मंगल गीत सुनाने का रिवाज था। नृत्यशालाएँ भी स्थापित थी। इनसे मनोरंजन तो होता ही था, जनरुचि और लोक संस्कृति का परिश्कार भी होता था। जन–रंजन के अन्य साधनों में आखेट और मेलों की भी व्यवस्था थी जिनमें बिठूर का मेला बड़ा प्रसिद्ध था। इन्दल हरण प्रसंग में बिठूर के मेले की चतुर्दिक प्रसिद्धि का पता चलता है–

जेठ दशहरा की पर्वी है बुडकी लेन गंग की धार।
देश–देश के राजा चलिभै लीन्हे साथ सूर सरदार।।[21]

मेला देखो जब उदनि ने तब ढेबाते कही सुनाय।
कहा जात है यह मेला सब, दादा हमहि देउ बतलाय।।
बोले ढेबा तब ऊदनि ते, मेला यह बिठूर को जाय।[22]

भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिकता के कारण अनुपम सौन्दर्य प्राप्त है। स्वभावतः इस संस्कृति में धर्म की परिधि में जीवन आवत्त है। यह सच है कि चन्देलों के समय में वैदिक और पौराणिक धर्म का बोलबाला था और आल्हखण्ड की सुमिरनी में इन देवी–देवताओं के प्रति अपार श्रद्धा निवेदित की गयी है, फिर भी मैहर की शारदा देवी, शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि के अलावा कालान्तर में क्षेत्रीय देवी–देवता जैसे –घाटमपुर की मुक्ता देवी, रूपन गुरू आदि भी शामिल होते चले गये है। बहुदेववादी इस समाज में धार्मिक सहिश्णुता व्याप्त थी, इस बात में कहीं कोई सन्देह नहीं है।

शैव, शाक्त और वैष्णव भक्ति के अतिरिक्त नाथपंथी योग–साधना को भी इस काव्य में स्थान मिला है। सती जैसी कुप्रथा तो समाज में प्रचलित थी, किन्तु कई सती स्त्रियाँ लोकदेवी के रूप में भी प्रतिष्ठित थीं।

धार्मिक अनुष्ठान, लोकाचार, लोकप्रथा, लोकविश्वास आदि लोक–संस्कृति के ही रूप हैं जिनके विविध चटक रंग आल्हखण्ड में व्याप्त हैं। उदाहरणार्थ मांगलिक अवसरों यथा–बारात सजाने से पूर्व नजर उतारने की परम्परा थी–

नीमा जामा ऊदनि पहिरें शिर पर मौर धरौ तहँ जाय।
सेरवा लेके चन्द्रावलि तब राई लोन उतारन लागि।।[23]

वेदी बनाकर गौरी गणेश पूजन का चलन था। गणेश–पूजन के पश्चात् सात सुहागिनें मिलकर तेल चढ़ाती थीं–

मल्हना रानी नेग करावै, सखियाँ करैं मंगलाचार।
बेदी रचवाई आंगन में मोतिन चौक दई पुरवाय।।
चूड़ामणि पंडित तहँ बैठे, गौरी गणेश दियो पुजवाय।
बारह रानी परिमालै की, सो मंडप में पहुँचीं आय।।
तुरत बुलाय लियो आल्हा को औ चौकी पर दियो बिठाय।
सात सुहागिन मिलि आल्हा को मडये तैल दियो चढ़वाय।।[24]

यह हिन्दी आलोचना का दुर्भाग्य है कि आलोचकों का ध्यान कशतियों के भाव और भौली–पक्षों की ओर ही केन्द्रित रहा है, उन कशतियों की भावधाराओं को उद्वेलित–प्रेरित करने वाली तथा रह–रह कर उनपर अपनी छाप छोड़ने वाली सामाजिक और सांस्कृतिक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमियों की ओर नहीं। आलोचना का यह एक बहुत ही पीड़ादायक पक्ष है। दूसरी बात यह कि हिन्दी आलोचकों ने इस बात पर भी विचार नहीं किया कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक जब किसी कश्ति पर टिप्पणी करते हैं तब उनकी उस कश्ति की गहराइयों में पैठने की कितनी रुचि और कितनी फुर्सत रही होगी। यदि पूर्ववर्ती किसी प्रसिद्ध आलोचक ने आल्हखण्ड के बारे में यह कह दिया कि वह तो गवैयों की चीज है तो बाद के आलोचक भी इसी सुर में सुर मिलाते रहे। इसके गम्भीर उपयोगी और महत्वपूर्ण पक्षों की गहराइयों मे उतरकर इसके मूल्यांकन का कष्ट उन्होंने नहीं

उठाया। इस आलेख में बुंदेलखण्ड के सामाजिक और सांस्कृतिक वैभव की झलक भर दिखलायी गयी है। इस विषय पर अभी और गहन शोध की जरूरत है।

आधार ग्रन्थ –

(क) आल्हखण्ड बड़ा (महोबे की बोली में), लक्ष्मीवेंकटे वर छापाखाना कल्याण, मुम्बई से प्रकाशित।

(ख) 'आल्हखण्ड' मे वर्णित समाज एवं संस्कृति–लेखक–पवन अग्रवाल, हिन्दी अनुशीलन (त्रैमासिक), पृ०–86–91 सित०–दिस० 2001.

सन्दर्भ सूची :–

1. पृ० 9, प्रस्तावना आल्हखण्ड–बड़ा–संकलनकर्ता पं० नारायण प्रसाद (असली 52 गढ़ की लड़ाई) सीतारामजी, संस्करणः जुलाई, 2006, संवत–2063 मुद्रक एवं प्रकाशकः खेमराज श्री कृष्णदास, अध्यक्ष, श्री वेंकटे वरप्रेस, खेमराज श्री कृष्ण दास मार्ग , मुम्बई।
2. पृ.389, नरवरगढ़ की लड़ाई, वही –
3. पृ.18, परिमाल का ब्याह, वही –
4. पृ. 203, सिरसा की पहिली लड़ाई, वही –
5. पृ. 231 नैनागढ़ की लड़ाई, वही –
6. पृ. 129 माड़ौ की लड़ाई, वही –
7. पृ. 214, सिरसा की पहली लड़ाई, वही –
8. पृ. 490, बलबुलारे की लड़ाई, वही –
9. पृ. 128, माड़ौ की लड़ाई, वही –
10. पृ. 144 माड़ौ की लड़ाई, वही –
11. पृ. 134 माड़ौ की लड़ाई, वही –
12. पृ. 392, नरवरगढ़ की लड़ाई, वही –
13. पृ. 99, माड़ौ की लड़ाई, वही –
14. पृ. 159, माड़ौ की लड़ाई, वही –
15. पृ. 159, माड़ौ की लड़ाई, वही –
16. पृ. 163, माड़ौ की लड़ाई, वही –
17. पृ. 44, परिमाल का ब्याह, वही – (महोबे की पहली लड़ाई)
18. पृ. 214, सिरसा की पहिली लड़ाई वही –
19. पृ. 107, माड़ौ की लड़ाई वही –
20. पृ. 214, सिरसा की पहिली लड़ाई वही –
21. पृ. 70, महोबे की लड़ाई, वही –
22. पृ. 466, इंदल हरण की लड़ाई, वही –
23. पृ. 384, नरवरगढ़ की लड़ाई, वही –
24. पृ. 233, नैनागढ़ की लड़ाई, वही –

■

सृजन विमर्श

मध्यकालीन कोरिया और
नालंदा महाविहार के भिक्षु ध्यानभद्र

संतोष कुमार गुप्ता*

अधिकांश भारतीय स्रोत इस बात की पुष्टि करते हैं कि 13वीं शताब्दी ई. में नालन्दा ने अपना गौरव खो दिया। प्रश्न यह है कि मुस्लिम आक्रमण के बाद नालन्दा महाविहार का अस्तित्व कैसा रहा। इतिहास के कुछ विद्वानों का तर्क है कि मुस्लिम आक्रमण के बाद नालन्दा महाविहार पूरी तरह से ध्वस्त हो गया तथा वहाँ अध्ययन और अध्यापन का कार्य बंद हो गया। लेकिन चीनी, तिब्बती और कोरियाई साक्ष्यों से पता चलता है कि नालन्दा विश्वविद्यालय की ऐतिहासिक इमारत के विध्वंस के बाद भी नालन्दा में ज्ञान–विज्ञान की सरिता बहती रही। इसमें कोई संदेह नहीं कि नालन्दा शिक्षा का केन्द्र नहीं रह पाया। परंतु नालन्दा विश्वविद्यालय के शिक्षक छुप–छुपाकर या छोटे–छोटे समूहों में बंटकर तथा ग्रामीण इलाकों में शिक्षा का दीप जलाते रहे। ज्ञान की जो बड़ी ज्योति नालन्दा के प्रांगण में प्रज्ज्वलित होती थी, वह कई भागो में बंटकर अपना अस्तित्व बचाने में कामयाब रही। उसका अस्तित्व बचा रहा और छोटे–छोटे प्रयासों से उस ज्ञान ज्योति का प्रसार देश के कई हिस्सों में तो हुआ ही, विदेशों में भी नालन्दा ज्ञान परंपरा का विस्तार होता रहा।

प्रख्यात कोरियाई इतिहासकार हओ होंग–सिक, जिनका ध्यानभद्र पर महत्वपूर्ण शोध कार्यो में योगदान है, ने इस अवधारणा का खंडन किया कि मुस्लिम आक्रमण के बाद नालन्दा महाविहार संचालन में नहीं रहा। उनकी अनेक शोध पुस्तकें और शोध–पत्र विशेष रूप से 14वीं शताब्दी ईस्वी के नालंदा महाविहार की गतिविधियों पर केंद्रित हैं। इसी प्रकार कोरिया के दो अन्य इतिहासकारों सुह तन–गाक और ली तै–योंग ने भी नालंदा के भिक्षु ध्यानभद्र पर प्रकाश डाला है। यह शोध–पत्र नालंदा के भिक्षु से संबंधित मध्ययुगीन भारत और कोरिया के ऐतिहासिक स्त्रोतों के साथ–साथ भिक्षु ध्यानभद्र की कोरिया यात्रा को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रेखांकित करता है।

* लेखक 14 वर्षों तक कोरिया में अध्यापन करते रहे। संप्रति स्कूल ऑफ लिबल आट्र्स एंड लैंग्वेज, अमिटी यूनिवर्सिटी, हरियाणा में एसोसिएट प्रोफेसर हैं। संपर्क : ए.एस.एल. डी./320बी, अमिटी यूनिवर्सिटी, मानेसर, गुरूग्राम–122413 (हरियाणा), मो. 7042302440

यद्यपि नालंदा महाविहार के ऐतिहासिकता से जुड़ा ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जो इसे गुप्तकाल से पहले के राजवंशों से जोड़ सके। प्रारंभिक स्त्रोत गुप्त वंश के शासक समुद्रगुप्त के ताम्रपत्र और कुमारगुप्त के मुद्रा (सिक्का) है। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त प्राचीन भारत के महान धर्मनिष्ठ हिंदू शासक थे, फिर भी उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं, महाविहार के विकाश, बौद्ध भिक्षु और छात्र कल्याण के लिए नालंदा क्षेत्र में भूमि अनुदान भी दिया। चीन के प्रसिद्ध विद्वान ह्वेन त्सांग ने लिखा है कि राजा सकरादित्य ने एक विशिष्ट स्थान का चयन कर एक मठ का निर्माण किया। उनके उत्तराधिकारी बुद्धगुप्त और तथागतगुप्त ने भी समीप में मठ बनवाएँ। नालन्दा महाविहार और उसके छात्रों का स्पष्ट विवरण राजा हर्षवर्धन के काल के इतिहास से स्पष्ट होता है जो प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत के एक महान बौद्ध राजा थे। चीनी यात्री ह्वेन त्सांग ने उल्लेख किया है कि राजा द्वारा एक सौ गांवों और दो सौ गृहस्थों का राजस्व नालंदा महाविहार के छात्रों के लिए चावल, मक्खन और दूध उपलब्ध कराने के लिए दान किया गया था। जहाँ वे भोजन की चिंता किए बिना आसानी से अपना अध्ययन कर सकें (घोष, 1939, पृष्ठ 41)। ऐतिहासिक स्त्रोतों से पता चलता है कि नालन्दा महाविहार पाल वंश और सेन वंश के राजाओं के संरक्षण प्राप्त कर संचालित रहा, लेकिन मुस्लिम आक्रमण के शुरुआत के साथ तहस–नहस हो गया। पुस्तकालय को आग लगा दी गयी, भिक्षुओं को मार दिया गया, पांडुलिपियों को नष्ट कर दिया गया और कीमती धरोहर लूट ली गयी । मुस्लिम शाशक खिलजी के आक्रमण के बाद तिब्बती भिक्षु चाग लो ने 1235 में नालन्दा का दौरा किया और नालंदा में जली हुई इमारतें और पुस्तकालय देखे। हालाँकि नालंदा तत्कालीन समय में भी अल्पसंख्य भिक्षुओं और छात्रों के साथ संचालित रहा (चट्टोपाध्याय, 1999, पृष्ठ 4)।

कोरियाई इतिहासकार हओ होंग–सिक ने भी इस अवधारणा का खंडन किया कि नालंदा महाविहार मुस्लिम आक्रमण के बाद संचालन में नहीं रहा। उन्होंने वर्षों के शोध को आधार बनाकर यह उल्लेख किया है कि ध्यानभद्र (जिन्हें कोरिया में सुन्यादिस्या और ची–गोंग, चीन में झिकोंग चान्क्सियान के नाम से भी जाना जाता है) (1289–1363 ई.), एक भारतीय भिक्षु थे (थापा, 2006, पृष्ठ 1–26)। ध्यानभद्र ने कोरिया की यात्रा की और धर्म प्रसार ही नहीं बल्कि उन्होंने 1328 में ह्वेओम्सा मठ की स्थापना नालंदा की तर्ज पर किया। ध्यानभद्र की ऐतिहासिकता नालन्दा महाविहार तक जाती है जहाँ उन्होंने स्नातक की उपाधि प्राप्त की और एक बौद्ध भिक्षु के रूप में अपना जीवन समर्पित किया (हओ, 1997, पृष्ठ 194–201)।

ध्यानभद्र ने कोरिया में एक भिक्षु के रूप में अपना समय समर्पित किया। धर्म और शिक्षा के प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कोरिया पहुँचने के पहले ध्यानभद्र ने चीन के युनान में धर्म के प्रचार–प्रसार किया, वहाँ के झेंगसु छान सू मठ में कुछ शिलालेख संग्रहित हैं जो वहाँ ध्यान परंपरा को शुरू करने

में ध्यानभद्र के योगदान को रेखांकित करता है। यहाँ उन्होंने बौद्ध मठ बनवाया। जहाँ के स्त्रोतों से स्पष्ट होता है कि चीन के लोग उस समय भी नालंदा को भारतीय बौद्ध धर्म का केंद्रीय संस्था के रूप में मानते थे। ध्यानभद्र का जन्म भारत में मगध साम्राज्य के राजकुमार के रूप में हुआ था। उन्होंने उन्नीस वर्ष की आयु तक नालन्दा महाविहार में अध्ययन किया (थापा, 2006, पृष्ठ 1–17)। नालंदा महाविहार के तत्कालीन इतिहास पर पूर्वी एशिया, विशेषकर चीन और कोरिया के ऐतिहासिक स्रोतों पर ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है। कोरियाई इतिहासकार हओ होंग–सिक दृढ़तापूर्वक तर्क देते हैं कि नालन्दा 14वीं सदी में भी बौद्ध शिक्षा का एक प्रसिद्ध केंद्र था और मुस्लिम आक्रमण के बाद भी कार्यरत्त रहा। उनका विवरण चीनी वृत्तांतों और भारत के समकालीन यात्रियों के वृत्तांतों पर आधारित है। चीनी स्त्रोत कि व्याख्या नालन्दा महाविहार के अस्तित्व पर विचार करती है जहाँ ध्यानभद्र ने बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। ध्यानभद्र के विद्वतापूर्ण कार्य, चीनी और कोरिया के बौद्ध सिद्धांत में उनके योगदान, नालंदा के समृद्ध संस्कृति को दर्शाता है और नालंदा को बौद्ध अध्ययन के महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में स्थापित करता है (हओ, 2006, पृष्ठ 1–4)।

कोरिया के इतिहास में ध्यानभद्र

कोरियाई स्रोतों के अनुसार ध्यानभद्र का जन्म एक शाही परिवार में हुआ था। उनके दादा कपिला के राजा थे। लेकिन उनके पिता मगध क्षेत्र के राजपरिवार से थे (सुह, 9189, पृष्ट 30)। इस स्रोत से अस्पष्ट है कि ध्यानभद्र किस राज्य के राजपुत्र थे। मुस्लिम आक्रमण के बाद मगध का क्षेत्र इस्लामी शासन के अधीन हो गया, लेकिन कई छोटे–छोटे हिंदू राज्य तुर्की शासन के समानांतर अपना अस्तित्व कायम रखे थे। इसलिए यह कहना यथोचित होगा कि ध्यानभद्र का परिवार समकालीन मगध क्षेत्र के किसी राज परिवारों में से एक था। ज्ञात हो कि भारतीय स्रोत में ध्यानभद्र के पारिवारिक संबंधों का उल्लेख नहीं है। ध्यानभद्र और उनके परिवार की विस्तृत ऐतिहासिक स्त्रोत के उपलब्ध नहीं होने के कारण ही भारतीय इतिहास इस पर मौन है।

पूर्व एशिया के इतिहासकार आर्थर वैली ने कोरियाई शिलालेख का अनुवाद किया है, जिसमें भारतीय भिक्षु के बारे में उल्लेख है। इसमें यह भी उल्लेख है कि ध्यानभद्र भारत के शाही परिवार से थे। यह शिलालेख चीनी भाषा में है। इस स्त्रोत में भी ध्यानभद्र के पिता को मगध के राजपरिवार से सम्बंधित वर्णित किया गया है तथा उनकी माता को कांचीपुर (समकालीन दक्षिण भारत में कांचीपुरा) की राजकुमारी के रूप में वर्णित किया गया है। यह ऐतिहासिक स्त्रोत कोरिया के बौद्ध मठ कुयेन–सू में भारत के भिक्षु ध्यानभद्र की स्मृति में बनाए गए स्तूप के एक काव्यात्मक शैली में लिखे गए शिलालेख की प्रस्तावना है। इसकी रचना 1378 ई. में ली–से नामक लेखक द्वारा की गई थी, जो 1368 ई. में मंगोलों के सचिव थे। इस शिलालेख का अनुवाद 1932 में आर्थर वैली द्वारा मध्यकालीन

भारत में बौद्ध धर्म पर नई रोशनी (मेलंजेस चिनोइस एट बौधिकेस), भी र्शाक से प्रकाशित किया गया था (वैली, 1932, पृ. 361–362)।

शिलालेख में मिले विवरण के अनुसार उनका परिवार शाकाहारी था। उन्हें आठ साल की उम्र में प्रदर्शनी के मास्टर, विनयभद्र (Ch: Lu&hsien) के साथ अध्ययन करने के लिए नालंदा महाविहार भेजा गया था (सुह और ली, पेज। 30)। औपचारिक परीक्षण के बाद, उन्हें नालन्दा में एक छात्र के रूप में स्वीकार किया गया। जहाँ उन्होंने प्रज्ञापरिमिता का अध्ययन किया। जब वे उन्नीस वर्ष के थे, तब उन्होंने नालन्दा महाविहार से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद, उनके गुरु ने उन्हें श्रीलंका जाने और मास्टर सामंतप्रभा (चरूपु–मिंग) की प्रत्यक्ष देख–रेख में अध्ययन करने का सुझाव दिया। आर्थर वैली ने उल्लेख किया है कि मास्टर सामंतप्रभा श्रीलंका में श्रीगिरि पर्वत पर रहते थे (वैली, 1932, पृ. 361–362)। हालाँकि हओ होंग–सिक को माउंट श्रीगिरि के सटीक स्थान के बारे में संदेह है। वह वर्तमान श्रीलंका में श्रीगिरि के सटीक स्थान का पता नहीं लगा सके (हओ, 1997, पृष्ठ 24)। ध्यानभद्र ने अपने गुरु के निर्देशों का पालन किया और श्रीलंका पहुंचने के लिए यात्रा पर निकल पड़े। रास्ते में, वह बंगाल में स्थित राधका (चरू लो–लो–ह्सू) पहुंचे। बंगाल में उन्हें कमल सूत्र की व्याख्या करने वाला कोई व्यक्ति मिला। उन्होंने उनसे बात की और अपनी कठिनाइयों के बारे में बताया। ज्ञात हो कि उस समय संपूर्ण बंगाल मुस्लिम शासन के अधीन था। हालाँकि राधापुरम में बौद्ध धर्म मौजूद था। आर्थर वैली और हओ होंग–सिक दोनों का मानना है कि मुस्लिम शासन के दौरान भारत में बौद्ध धर्म का पतन नहीं हुआ। समकालीन बंगाल वज्रयान बौद्ध धर्म का केंद्र था (हओ, 2006, पृष्ठ 5)। हालाँकि ध्यानभद्र का तांत्रिक बौद्ध धर्म से जुड़ाव प्रमाणित करने वाला कोई महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है। राधका में कुछ दिन रहने के बाद, ध्यानभद्र दांता पहुंचे, जिसे दंतपुरा के नाम से जाना जाता है, जो मध्ययुगीन कलिंग की राजधानी थी (वैली, 1932, पृ. 363)। हओ होंग–सिक ने उल्लेख किया है कि ध्यानभद्र कलिंग चले गए, जिसका उल्लेख वैली के अनुवाद में नहीं है। इस चर्चा पर इतिहासकारों को अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। अन्य स्रोतों का उपयोग करके स्वतंत्र पुष्टि के लिए इसका विश्लेषण किया जाना चाहिए। वैली के अनुसार, ध्यानभद्र ने छह परिमिता, बोधिसत्व अभ्यास के दस चरणों और ब्राह्मण परंपरा की अन्य प्रथाओं का प्रचार किया। उन्होंने माउंट मैरिसी पर अपना ग्रीष्मकालीन एकांतवास किया और फिर श्रीलंका चले गए। हओ होंग–सिक ने मारीसी को श्रीलंका से पहले की स्थिति वाला बताया है (हओ, 1997, पृष्ठ 24)। हालाँकि वैली के नोट्स के अनुसार माउंट मारीसी कलिंग और कांसीपुरा के बीच में स्थित था। ध्यानभद्र ने इसी स्थान पर ग्रीष्मकालीन एकांतवास भी किया था (वैली, 1932, पृ. 363)। फिर ध्यानभद्र कांसीपुरा गए, जो वर्तमान में आंध्र प्रदेश में स्थित है, जहाँ वे कुछ समय

तक रहे। अंततः वह समुद्री मार्ग से भारतीय सीमा पार कर श्रीलंका पहुँचे (हओ, 1997, पृष्ठ 21–25)।

हालाँकि वैली के अनुसार कम से कम श्रीलंका का उत्तरी भाग भारतीय आक्रमणकारियों के नियंत्रण में था। उनके अनुसार यह क्षेत्र शक्ति पूजा के लिए प्रसिद्ध था। जहाँ ध्यानभद्र ने लोगों को देवी शक्ति की पूजा करते हुए पाया। लेकिन इस क्षेत्र के शासक बौद्ध थे। वह श्रीलंका में कितने समय तक रहे, इसका उल्लेख न तो वैली के विवरण में है और न ही हओ होंग–सिक की पुस्तक में। वास्तव में ध्यानभद्र थोड़े समय के लिए रुके थे। अपने प्रवास के दौरान उन्होंने आम लोगों को बुद्ध की शिक्षाएँ भी दीं।

उन्होंने मास्टर सामंतप्रभास की देख–रेख में बौद्ध धर्म का भी अध्ययन किया। कुछ समय बाद, वह भारत लौट आए और दक्षिण–पश्चिम और उत्तर–पश्चिम भारत के कई स्थानों की अपनी यात्रा जारी रखी। कोरियाई स्रोत के अनुसार वह द्रवती या द्वारवती (टू–लो–फू) लौट आए जहां उन्होंने शिक्षा दी और एक भिक्षुनी को प्रबुद्ध किया (वैली, 1932, पृष्ट 363)।

वह समाधि मुद्रा में त्रिधारा की एक गुफा में सात दिन रहे। इसके बाद वह आधुनिक भारत के पंजाब और कश्मीर क्षेत्र में जालंधर पहुंचे। जालंधर में उनकी मुलाकात एक पुजारी से हुई जो बैल की खोपड़ी में भोजन चढ़ाकर पूजा करता था। इस प्रकार की पूजा शाविसिम में लोकप्रिय थी। हओ होंग–सिक ने भी हिंदू पूजा का उल्लेख किया है। ध्यानभद्र का सामना अनावतप्त के एक शैव पुजारी से हुआ। वह पहले ही शैवियों से भिड़ चुका था (हओ, 1997, पृष्ठ 26)। फिर उन्होंने टीएल–ली–हौ–ती नामक क्षेत्र में प्रवेश किया, जिसे तिरहुत के रूप में पहचाना जाता है। तिरहुत का क्षेत्र मालसा से बहुत दूर स्थित था, जो नेपाल और बिहार के दक्षिणी भाग के विशाल क्षेत्र को कवर करता था। फिर वह तिंग–चू–ली पहुंचे, वैली ने इस स्थान की पहचान हिमालय क्षेत्र में टेहरी के रूप में की है। यह स्थान तिब्बत और नेपाल से सटे आधुनिक उत्तरांचल राज्य में हिमालय की गोद में स्थित है। हेओ इस स्थान का वर्णन टिक्करी के रूप में करता है। इस क्षेत्र को पार करने के बाद, वह नेपाल के निकालाला (नी–च–इह–लो) पहुंचे, जहां राजा उनसे मिलना चाहते थे। उन्होंने बौद्ध धर्मग्रंथ और सूत्र पर एक चर्चा में भाग लिया (हओ, 1997, पृष्ठ 28, 48)। कई दिनों तक पूर्व की यात्रा करने के बाद वह हिमालय की गोद में स्थित एक छोटे से राज्य सिक्किम पहुंचे। ध्यानभद्र ने क्षेत्र में ऊंचे पहाड़ों को पार किया। स्थानीय लोग इसे आयरन माउंटेन कहते थे। यह पर्वत मिट्टी और पौधों से विहीन था। संभवतः यह क्षेत्र सिक्किम की दूसरी सबसे ऊँची चोटी कंचनजंघा क्षेत्र में स्थित था (वैली, 1932, पृ. 368)। सिक्किम भारतीय क्षेत्र का अंतिम पड़ाव था जहाँ ध्यानभद्र नाथुला दर्रे को पार करके तिब्बत पहुँचे। तिब्बत में उनकी मुलाकात महापंडित नाम के एक भारतीय भिक्षु से हुई जो उनके साथ पेकिंग जाने के लिए सहमत हो गए। लेकिन किसी

भी ऐतिहासिक साक्ष्य में यह उल्लेख नहीं है कि क्या भारतीय भिक्षु ध्यानभद्र के साथ पेकिंग गए थे। तिब्बती लोगों ने बौद्ध धर्म के उत्साह को समझने के लिए गंभीर प्रयास किए जब विक्रमशिला महाविहार के एक प्रसिद्ध भारतीय भिक्षु अतीसा तिब्बत पहुंचे और बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

उन्होंने तिब्बत में हसिया और लोलोस के क्षेत्र जैसे कई स्थानों की यात्रा की। वह सू–चुआन की राजधानी चेंग–तू में तीन साल तक रहे। उन्होंने यांग्त्जी नदी को पार किया और युन्नान प्रांत पहुंचे। जहां उन्होंने स्थानीय लोगों के अनुरोध पर पांच सभाएं आयोजित कीं। ध्यानभद्र के अनुसार इस क्षेत्र के राजकुमार ने पहली बार बुद्ध का नाम सुना था। कुई–चौ प्रांत के पास चांग–ते में, उन्होंने पूर्वजों की पूजा के लिए एक मठ की स्थापना की। उन्होंने तुंग–लिन सू, हुआई–हिस और यांग–चाउ का दौरा किया ((वैली, 1932, पृष्ट– 372)।

वहां एक कोरियाई आम महिला ने उनसे पेकिंग जाने और चुंग–जेन मठ में रहने का अनुरोध किया। ऐतिहासिक साक्ष्य 1368 ई. के चीन–मंगोलियाई युद्ध के एक संक्षिप्त ऐतिहासिक साक्ष्य पर भी प्रकाश डालते हैं। जैसा कि चीन–कोरियाई स्रोतों में उल्लेख किया गया है, श्रीलंका से भारत, नेपाल, सिक्किम, तिब्बत और युन्नान के रास्ते लंबी यात्रा के बाद, ध्यानभद्र अंततः आ गए। दादू, युआन राजवंश (1206–1368) की राजधानी थी। वह चीन में तेरह वर्ष रहे। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर धर्म की शिक्षा दी। उनका अनुवाद और अन्य कार्य अभी भी चीनी भाषा में संरक्षित हैं। चीन में रहने के दौरान उन्हें कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। बौद्ध धर्म के भीतर वैचारिक मतभेदों के कारण, चीन के युआन बौद्ध आदेश के अधिकारियों ने उन्हें सताया (हओ, 2006, प भठ 2)। फिर उन्होंने चीन छोड़ दिया और अंततः कोरयो साम्राज्य (918–1392) की राजधानी केग्योंग पहुंचे। उन्होंने 14वीं शताब्दी में कोरियाई बौद्ध धर्म के विकास में बहुत योगदान दिया है।

मौजूदा पुरातत्व और साहित्यिक स्रोतों से पता चलता है कि यह केवल कोरिया ही था। जहाँ उनकी शिक्षाएँ फली–फूलीं। दक्षिण कोरिया में इसकी विरासत आज भी कायम है. बौद्ध कला में ध्यानभद्र के चित्रण से कोरियाई बौद्ध इतिहास में उनके महत्व का पता चलता है। पूरे कोरिया में ची–गोंग के कई सजाए गए तिकड़ी चित्र दर्शाए गए हैं (स्टिलर, 2007, पृष्ठ 11) । हालाँकि, कई विद्वानों ने उनके योगदान को उजागर करने के लिए और शोध की आवश्यकता पर बल दिया है (सुह और ली, पृष्ठ 32)। उनके जीवन और विचारों से जुड़े ऐतिहासिक साक्ष्य आज भी होइम–सा मठ में संरक्षित हैं। इस मठ की स्थापना वेन की याद में की गई थी। ध्यानभद्र और उनके शिष्य मुहाक देसा (ताएजो के गुरु – पहले राजा), यी सेओंग ग्ये और प्रिंस ह्योरियॉन्ग, (राजा ताएजोंग के दूसरे बेटे) ने इस मठ में खुद को बौद्ध धर्म के लिए समर्पित कर दिया। कोरयो राजघराने

ने इस मठ का संरक्षण किया। जोसन शाही दरबार के सहयोग से इसका विस्तार भी किया गया।

समसामयिक कोरिया में हेओआम्सा मठ

होइम मठ के स्थान को 1964 से ऐतिहासिक स्थल संख्या 128 के रूप में नामित किया गया है और इसकी खुदाई अभी भी चल रही है। इस खुदाई के मुख्य स्थल हैं होएम–सा साइट का एक स्तूप (प्रॉपर्टी संख्या 388), ट्विन–लायन पत्थर का लालटेन (प्रॉपर्टी संख्या 389), ची–गोंग सियोंसा का स्टेल (ग्योंगगी–डो सांस्कृतिक संपत्ति सामग्री संख्या 135), स्तूप और पत्थर का लालटेन नाओंग सियोंसा (ग्योंगगी–डो मूर्त सांस्कृतिक संपत्ति संख्या 50), होइम–सा साइट का स्तूप (ग्योंगगी–डो मूर्त सांस्कृतिक संपत्ति संख्या 52), ची–गोंग सियोंसा का स्तूप और पत्थर का लालटेन (ग्योंगी–डो सांस्कृतिक संपत्ति संख्या 49)। इस क्षेत्र में 1994 से पुरातत्व उत्खनन जारी है। विस्तृत उत्खनन रिपोर्ट का प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है।

ह्वेओम्सा मठ का निर्माण ची–गोंग ने कोरयो के राजा चुंगसुक (1328) ने किया था, लेकिन 1800 के दशक में जोसन राजवंश के राजा सुंजो ने इसे बंद कर दिया। यह पहले जोसन राजवंश में शाही परिवार द्वारा संरक्षित एक मठ था. राजा ताएजो ली सेओंग–गे ने अपने बुढ़ापे में वहाँ रुके और ध्यान का अभ्यास किया था। ची–गोंग और नाओंग के स्तूपों के साथ मठ स्थल के उत्तरी रिज पर खड़ा यह स्तूप महान बौद्ध भिक्षु मुहक की कब्र है। टावर को सुरक्षित रखने के लिए चारों ओर रेलिंग लगाई गई है।

मुहाक, जो ह्वेओम्सा मठ के मठाधीश भी थे, एक भिक्षु थे जो कोरयो राजवंश से जोसन राजवंश की शुरुआत तक सक्रिय रहे। उन्होंने राजा ताएजो ली सेओंग–गे, जो जोसन की स्थापना की थी। ली विशेष रूप से हन्यांग के स्थानांतरण और सेओंग–ग्ये के सपने और उसके राजा बनने की भविष्यवाणी की प्रसिद्ध कहानी है। स्तूप का आधार एक अष्टकोणीय फर्श के पत्थर पर रखा गया है, जिस पर बादल के पैटर्न की नक्काशी है। शिवालय के शरीर और सिर की सजावट उसके ऊपर है।

स्टाइलोबेट के ऊपरी और निचले पत्थर कमल के आकार के हैं, और मध्य पत्थर एक अष्टकोणीय ड्रम के आकार का है, जिसके पेट उभरा हुआ है और चारों ओर अलग–अलग आकार के फूलों के टुकड़े खड़े हैं। पगोडा का शरीर गोल है और उसकी सतह पर बादल और ड्रेगन हैं, जो ध्यान आकर्षित करते हैं। बादल का पैटर्न आंदोलन की भावना को बढ़ाता है और ड्रैगन के सिर, शरीर और तराजू को वास्तविक रूप से व्यक्त किया गया है। छत के पत्थरों पर अष्टकोणीय आकृतियाँ उकेरी गई हैं, जो लकड़ी की वास्तुकला की तरह दिखती हैं। ढलान खड़ा है, टांग हल्का उठा हुआ है। इसके सरल संस्करण में छत के शीर्ष पर एक

गोल पत्थर है। यह भव्य, साफ–सुथरा और प्रारंभिक जोसन राजवंश की शैली का स्तूप है। ग्रेट मास्टर मुहाक की कब्र के रिकॉर्ड के अनुसार, यह 1407 में बनाया गया था।

निष्कर्ष

ध्यानभद्र भारत के नालंदा महाविहार के आचार्य थे और उनकी प्रारंभिक शिक्षा नालंदा में ही हुई थी। मध्यकालीन भारत के इतिहास को लेकर विद्वानों में कई तरह के विचार हैं और सामान्यतः यह माना जाता है की मुस्लिम आक्रमण के बाद नालंदा महाविहार ध्वस्त हो गया था। लेकिन पूर्व एशिया के इतिहासकार विशेषतः कोरिया के इतिहासकार का यह मत है कि 14वीं सदी तक नालंदा महाविहार चलता रहा। ध्यानभद्र के संदर्भ में कोरिया के शिलालेख महत्वपूर्ण हैं क्योंकि यह शिलालेख नालंदा और भारत के इतिहास को बताता है। इसी शिलालेख से ध्यानभद्र की जीवन यात्रा और उनकी श्रीलंका, तिब्बत, चीन, और कोरिया की यात्रा व तांत उत्कीर्ण हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. यांग हान सुंग, हाई–चो की यात्रा के बारे में नए तथ्य, कोरिया जर्नल, वॉल्यूम। 9, संख्या 12, दिसंबर 1969, पृष्ट 10–13य जान यूं हुआ, हाय–चो मेमोयसर्रू कोरियन रिकॉर्ड ऑन वाराणसी एंड सारनाथ, कोरिया जर्नल, वॉल्यूम। 9 नं. 9, सितम्बर 1970,
2. सुह टोन–काक और ली ताए–यंग, भारतीय बौद्ध भिक्षु चिगोंग के जीवन पर कुछ प्रतिबिंब, कोरिया जर्नल, वॉल्यूम। 29, संख्या 6, जून 1989, पृष्ठ 30.
3. आर्थर वैली, मध्यकालीन भारत में बौद्ध धर्म पर नई रोशनी (मेलंजेस चिनॉइस एट बौधिकेस), वॉल्यूम। 1, 1931–1932, जूलियट 1932, पृ. 361–362.
4. हओ ह्युंग–सिक, कोरियो ओलमगिन इंडोई देउंगबुल, सियोलरू 1997, पीपी. 194–201।
5. हओ ह्युंग–सिक, नालंदा बौद्ध धर्म का अंतिम प्रकाश मध्यकालीन कोरिया में प्रसारित, कोरियाई अध्ययन पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन की कार्यवाही, दिल्ली : 2006, पृष्ठ 1–4।
6. थापा, पूर्वी एशियाई इतिहास लेखन में भारतीय बौद्ध विचार का प्रसारण : ध्यानभद्र (ची–गोंग) और 14वीं शताब्दी कोरिया में बौद्ध धर्म, ऑप। सिट, पी. 17.

■

स्त्री विमर्श

दुनिया का सबसे पुराना

पूंजीवाद और स्त्री

सपना चमड़िया *

स्त्री का नाता जिन चीजों से साफ और सीधे तौर पर जुड़ा हुआ दिखाई देता है उनमें से कोई भी चीज उसकी चेतना की बेहतरी और उसके व्यक्तित्व के विकास से जुड़ी नहीं होती है। बल्कि धर्म, जाति, वर्ग जिस – जिसके नाम पर स्त्री को प्रताड़ित किया जाता है, ये सब एक तरह की सत्ता है, जो सिर्फ स्त्री का इस्तेमाल करती है और इसका यंत्र (टूल) भी स्त्री है और इसका शिकार भी स्त्री ही है। इसीलिए सिमोन द बोउआर अपनी किताब 'द सेकेंड सेक्स' में कहती है कि 'स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।'[1]

इन सारी सत्ताओं में संभवतः धर्म सबसे पुरानी सत्ता है जिसमें इव ने ऐडम को फल खाने का लालच दिया और खुदा ने पहले मर्द बनाया फिर उसकी पसलियों से स्त्री का निर्माण किया। मनु ने तो हिंदू स्त्री को जेंडर के साथ जाति में भी बांधकर दोहरे बंधन का आगाज किया। धर्म की सत्ता स्त्री पर नियमों की बाढ़ के रूप में इस्तेमाल की गई और इसे बहुत चालाकी से उसके चरित्र और चरित्र को पवित्रता से जोड़ दिया गया।

'सीता के अलावा पत्नीत्व के अन्य और भी शक्तिशाली आदर्श गढ़े गए। अरुंधति, सावित्री और अनुसूया इसी श्रेणी में आती है। अरुंधति के सतीत्व की ताकत से सूर्य ठहर गया, सावित्री ने मृत्यु देव यम के हलक से अपने पति को निकाल लिया और अनुसूया ने कामांध पुरुषों को बच्चा बना दिया।'[2]

धर्म की सत्ता के मूल में ही पवित्रता की कील नहीं गाड़ी गई बल्कि उसके पूरे बाह्य स्वरूप को पवित्रता शुद्धता के पाखंड और आडम्बर की टीम– टाम से घेर दिया गया। इस पूरे आयोजन के लिए डर को हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया। ऐसा होगा तो ऐसा हो जाएगा– अनिष्ट, अशुभ, जैसे शब्द स्त्री के दिमाग को अपने शिकंजे में कसते गए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण सिंदूर, बिछुए और चूड़ी को लेकर लोक में प्रचलित अवधारणाओं में देखा जा सकता है।

'हिंदू सभ्यता में सिंदूर विवाहित स्त्री का अपने पति के प्रति पतिव्रता, प्यार और निष्ठा का प्रतीक है।'[3]

---

* संपर्क – सी–2, पीपलवाला मोहल्ला, बादली, दिल्ली–110042, मो.– 8819297839

सिंदूर को लेकर तो एक स्टडी की जरूरत भी है। मुझे याद है कि एक बार एक महिला ने पूजा का नारियल गलती से कूड़े में डाल दिया और उसके बाद उसकी जो लानत– मलानत हुई वह तो अलग बात है। पूरे दिन सारा घर भय और अनिष्ट की आशंका में जीता रहा। 'कमला भसीन कहती है कि धर्म को आधार बनाकर नैतिकता, आचार संहिता, व्यवहार, कानून इन सबको स्त्रियों पर थोपा गया।'[4]

स्त्रियों के दिमाग में इस डर को चस्पा करने के बाद उनसे धर्म के नाम पर कुछ भी करवा लेना आसान होता गया। सती होना, विधवा के बाल उतरवाना, देवदासी के नाम पर वेश्यावृति करवाना, व्रत त्यौहार के नाम पर भूखा रह कर शारीरिक और मानसिक रूप से कमजोर करना आदि। इसके साथ ही धर्म के आडम्बर की पूर्ति के लिए उनके श्रम का भी इस्तेमाल करना। सुबह उठना, मंदिर साफ करना, रंगोली बनाना, चौक पूरना, प्रसाद तैयार करना, मंदिर सजाना, पूजा के बर्तन साफ करना, भगवान के कपड़े सिलना, गंगाजल ढो कर लाना आदि। उसपर तुर्रा यह कि पूजा में प्रमुख स्थान कभी स्त्री को नहीं दिया गया, उस पर हमेशा घर या समाज का मुखिया ही विराजमान रहा। 'कमला भसीन प्रमाण के साथ तर्क देते हुए बताती हैं कि परिवार में पुरुष परिवार का मुखिया होता है जो कि महिलाओं की यौनिकता, श्रम, प्रजननता और गतिविधियों पर नियंत्रण रखता है।'[5] उसी तरह जैसे पूंजी के लिए श्रम मजदूर करता है और सारा यश– लाभ मालिक को मिलता है, धर्म इस दुनिया का सबसे पुराना पूंजीवाद है। जिसमें सारा श्रम स्त्री करती है और सारे मठ और गढ़ का नियंत्रण पुरुष सत्ता के हाथ में होता है और मर कर स्वर्ग भी उसे ही मिलता है।

इस दुनिया में जितनी भी संस्थाएं बनी हैं उन सबका ढांचा धर्म संस्था के ढांचे की ही तरह का है। पवित्रता और भव्यता से लैस और भय की संरचना पर टिका हुआ है।[6] राजशाही की राजनीतिक व्यवस्था को धर्म की वैधानिकता ने ही पूरी तौर पर अमानवीय बनाया और यह प्रैक्टिस इंसानी सभ्यता को इतनी रास आई कि आज भी इसका चालाकी से इस्तेमाल किया जाता है। इराक पर अमेरिका का आक्रमण पेट्रो डॉलर के लिए था पर उसके लिए इस्लाम को आतंकवाद से जोड़ने की पृष्ठभूमि तैयार की गई। और आज का भारत इसी तर्ज पर चल रहा है। राजशाही में राज्यों के लिए कम उम्र स्त्रियां बूढ़ों से ब्याही गई। दशरथ और कैकई इसका अच्छा उदाहरण है, शायद यही वजह रही होगी कि कैकई ने उन दो प्रसिद्ध वरदानों को मांगकर सदियों तक की नफरत अपने लिए मोल ली । पर कैकई ने ऐसा क्यों किया इसका एक ही दिलचस्प समाज शास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। धोखे से राजाओं को मारने के लिए भी न जाने कितनी स्त्रियों को विषकन्या बनाया गया। यह स्त्री के शोषण के कई वीभत्स रूपों में से एक है। आचार्य चतुरसेन के प्रसिद्ध उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' में कुंडली एक विष कन्या है। –उसकी विष कन्या बनने की प्रक्रिया पढ़ने पर घृणा

और शर्म से सिर झुक जाता है। 'कुंडली ने अपनी चोली से एक थैली निकाली और उसमें से महानाग राज ने अपना फन निकालकर नृत्य करना प्रारंभ किया। महाराज दाधिवाहन एक बार फिर भीत हुए, परंतु मद्य के प्रभाव से वे असंयत होकर भी मृदंग बजाते रहे। उनका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो गया था।. .... महाराज दाधिवाहन ने ज्यों ही कुंडली का अधरोष्ठ चुम्बन लिया त्यों ही वह तत्काल मृत होकर पृथ्वी पर गिर गया।' इस उपन्यास में एक और आम्रपाली के नगर–वधू बनने का पुरुष वादी उत्सव तो दूसरी और कुंडली की विशकन्या बनने की मार्मिक कथा और तीसरी और गांधार की कम उम्र की राज कन्या कलिंग सेना की सत्तर साल के बूढ़े कौशल नरेश प्रसेनजित से अनमेल विवाह की सजा।[7] राज शाही द्वारा स्त्रियों के शोषण की दारुण कथा है। दासियों के रूप में स्त्रियों का खरीदा बेचा जाना और संपत्ति से बेदखल करना यह सब भी इस उपन्यास से पढ़ा समझा जा सकता है।

भारत में जाति व्यवस्था के उदय ने स्त्रियों को दोहरे–तिहरे शोषण चक्र में उलझा कर रख दिया है। स्त्रियों और शूद्रों के लिए कानून की किताब मनुस्मृति ने शोषण का संस्थानीकरण कर दिया जिससे युग–दर–युग संघर्ष करना भी मुश्किल होता गया। इसने स्त्रियों के व्यक्तित्व, उनकी चेतना, हां, ना, प्रेम करने के अधिकार, सेक्स की इच्छा–अनिच्छा, यहां तक कि मां बनने की सहमति– असहमति सब के अधिकार को छीन लिया। इसलिए इस देश में 21वीं सदी में भी स्त्रियों को दस दस–दस बच्चों की मां बनने का आदेश दिया जाता है। या फिर प्रेम करने पर एंटी रोमियो स्कॉट की प्रताड़ना या लव जेहाद का डर सहना पड़ता है।

उच्च वर्ण की महिलाएं जब बड़े गुरुर से अपने नाम के आगे पिता या पति का जाति सूचक सरनेम लगाती है तो उन्हें सिर्फ इससे अपनी से नीची जाति की स्त्री पुरुष के दमन में अपनी जाति के पुरुषों का साथ या एक हिस्सेदारी तो मिल जाती है, पर इससे यह समझना भूल होगी कि उन्हें अपने घर समाज में हर तरह की स्वतंत्रता हासिल हो जाती है। निरुपमा पाठक की हत्या उसकी अपनी मां समेत परिवार के अन्य सदस्यों ने ही की है या खाप पंचायतों के निर्णय उच्च जाति की लड़की के लिए भी मौत का फरमान लेकर ही आते हैं। यह समझने की जरूरत है कि उच्च वर्ग की महिलाओं को भी अपने घर में यौन, आर्थिक, राजनीतिक, बौद्धिक, अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। बल्कि यह तय हो चुका है कि वह अपने घरों में निम्न वर्ग और जाति की महिलाओं से ज्यादा कैद में रहती हैं। जाति के साथ वर्ग के साथ भी यही हुआ है। 'गॉन विद द विंड' की नायिका 'एस्कार्लेट 'ओ 'हाश' को अपने गांव में प्रसिद्ध अपनी पहचान चिह्न अपनी कमर को 17 इंच का रखने के लिए ना जाने क्या–क्या जतन करने पड़े होंगे।[8]

समय, व्यवस्था और समाज का रूप बदलता है तो पितृ सत्ताएं भी अपना रुख बदल लेती हैं। इसलिए हम आज पितृ सत्ता को पितृ सत्ताएं कहते हैं।[9]

जब अतिरिक्त श्रम की और सस्ते श्रम की जरूरत होती है तो महिलाओं को घर से निकालने को कहा जाता है और जब छटनी करनी होती है तो सबसे पहले उन्हें काम से बाहर कर दिया जाता है। इसका सबसे सटीक उदाहरण औद्योगिक पूंजीवाद की स्थापना में देखा जा सकता है। जब उत्पाद खेत की जगह फैक्ट्री में होने लग जाए और अठारहवीं–उन्नीसवीं सदी में इस व्यवस्था को स्थापित करने में महिलाएं और बच्चों को भी श्रम में स्थापित किया गया, लेकिन जब व्यवस्था जम गई तो महिलाएं और बच्चे इस व्यवस्था से बाहर कर दिए गए।

लोकतंत्र में काम करने वाली संस्थाओं को भी पुरुष– सोच से ही चलाया जाता है। इसलिए ही चुनाव के पोस्टर में महिला सरपंच के पति की फोटो प्रमुखता पाती है और कमोबेश पंचायत का सारा संचालन उसी के हाथ में ही होता है। विश्वविद्यालय, संसद, न्यायपालिका, मीडिया सहित सभी संस्थाएं इसे पुरुष–वादी ढांचे के भीतर इसी के लिए काम करती हैं, नहीं तो क्या वजह हो सकती है, इतना दंभ और असंवेदनशीलता की भंवरी बाई बलात्कार के निर्णय में कि न्यायालय यह कहने की हिमाकत कर सका कि भंवरी दलित'' है और क्योंकि दलित सवर्ण के लिए अस्पृश्य है इसलिए उसके साथ बलात्कार हो ही नहीं सकता?

संदर्भ :

1 सिमोन द बॉउवर– द सेकंड सेक्स

2 जाति समाज और पितृसत्ता, उमा चक्रवर्ती संस्करण 2011 पृष्ठ 74

3 दास देवीलीनारू बॉडी , बाउंड्रीस एंड सिंदूर फेमिनिज्म इन इंडिया, साउथ एशियारू जर्नल ऑफ साउथ एशियन स्टडीज, वॉल्यूम 43,2020 इशू 6

4 कमला भसीन, व्हाट इज पेट्रियारिकी (ॅींज पे चंजतपंतबील?) नई दिल्ली, वूमन अनलिमिटेड, 1993, पृष्ठ संख्या.6–12

5 वही किताब पृष्ठ संख्या 6–12

6 आचार्य रामचंद्र : शुक्ल धर्म और विज्ञान

7 वैशाली की नगरवधु (बौद्ध कालीन ऐतिहासिक उपन्यास) आचार्य चतुरसेन शास्त्री, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली –1936–1947, पृष्ठ संख्या 140–141

8 'गॉन विद द विंड', मार्ग्रेट मिशेल अनुवाद युगांक धीर संवाद प्रकाशन मुंबई, मेरठ, 2006

9 नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय 2006, में प्रकाशित चक्रवाती उमारू पितृसत्ता पर एक्रोनोट पृष्ठ संख्या 1–7

■

स्त्री विमर्श

मध्यकालीन भारत में महिलाओं की शिक्षा

अरुण कुमार *

बारहवीं से सत्राहवीं शताब्दी तक के समय को इतिहासकारों ने मध्यकाल कहा है। चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना हुई। इतिहासकार इस बात से सहमत हैं कि मुहम्मद गोरी का भारत पर आक्रमण एक प्रकार से इस्लामिक शासन की शुरुआत थी। मुस्लिम शासक जब पूर्व दिशा कि ओर आये तो अपने साथ ध्र्म और संस्कृति को भी भारत लेकर आए और शासन करते हुए इसे अपने शासन के सम्पूर्ण राजनीतिक व भौगोलिक क्षेत्रा में विस्तृत करने का कार्य किया। शिक्षा इस समय इनके सांस्कृतिक प्रसार का प्रमुख साधन बन गया था। ज्ञात है कि जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत का शासन संभाला, तो उसके सेनापति बख्तियार खिलजी ने नालंदा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों को नष्ट कर यहाँ की परम्परागत शिक्षा – व्यवस्था को नष्ट करने में किसी भी प्रकार से दयालुता दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। उसने इन दो विश्वविद्यालयों के शिक्षकों का कत्ल कर दिया और पुस्तकालयों को जला दिये। ऐसी घटनाओं से भयभीत होकर बौद्ध शिक्षा के सभी केंद्र भी कालान्तर में निष्क्रिय होकर समाप्त हो गए। तत्कालीन समय में बौद्ध केंद्रों में महिलाओं को भी शिक्षा दी जाती थी, इसलिए उनके समाप्त होने से उनकी शिक्षा भी प्रभावित हो गई।

1206 में मोहम्मद गोरी की मृत्यु हो गईं थी। 1206 ई. से 1526 ई. तक दिल्ली पर पाँच राजवंशों (गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैय्यद और लोदी) के सुल्तानों ने शासन किया। पानीपत की पहली लड़ाई में बाबर ने इब्राहिम लोदी को परास्त कर और भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना किया। पानीपत की दूसरी लड़ाई के उपरांत एक प्रकार मुगलों ने 1556 ई. में भारतीय शासन – व्यवस्था पर पूरी तरह से नियंत्रण स्थापित कर लिया ।

मुगल वंश के अनेक शासकों में बहादुर शाह अंतिम मुगल शासक था। 1862 में रंगून में इसकी मृत्यु हुईं थी। 1206 से 1857 तक भारत पर मुस्लिम राज्य किसी ना किसी रूप में सतारूढ़ रहा। जब हम मुस्लिम शिक्षा पर विचार करते हैं, तो हमें तेरहवी सदी के प्रारंभ से लेकर उन्नीसवीं सदी के मध्य के कालावधि को संज्ञान में प्रायः रखना पड़ता है। जब '1857 में भारतीय स्वतंत्रता के लिए

* शोधार्थी, ऐतिहासिक अध्ययन और पुरातत्व विभाग, दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, गया, बिहार
ईमेल : arunkumarmonto1@gmail.com , मो. 7011766176

संघर्ष हुआ तो इसमें अंग्रेजों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। भारत के भगौलिक भूमि पर ईस्लाम के आगमन से पहले ही भारतीय समाज में महिलाओं को अशिक्षा, सती प्रथा, विधवा विवाह, बहुविवाह जैसी कुप्रथाओं का सामना करना पड़ता था। कालान्तर में उन्हें अनेक सामाजिक प्रताड़नाओं का भी सामना करना पड़ा। मुस्लिम आक्रमण के दौरान भारत में बौद्ध शिक्षा भी प्रचलन में थी। साथ ही ब्राह्मणों के शिक्षा केंद्र भी चल रहे थे। महमूद गजनवी के आक्रमण का यहाँ की शिक्षा व्यवस्था पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उसका उद्देश्य सिर्फ भारत से धन प्राप्त करना था। यहाँ की शिक्षा व्यवस्था मुहम्मद गोरी के आक्रमणों से प्रभावित हुई। एक ओर, मुस्लिम आक्रमण के भय ने संयुक्त परिवार को नियंत्रित किया। वहीं दूसरी ओर, इसने पर्दा–प्रथा को प्राथमिकता प्रदान किया। विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं था, इसलिए विधवा पुनर्विवाह अभिशाप बन गया। विधवाओं को सती होना या जीवनभर विधवा बने रहने के अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प नहीं था।

उच्च वर्ग की महिलाएं अक्सर सती होना चाहती थी। बेटे के जन्म पर उत्सव मनाया जाता था और पुत्री के जन्म पर विशेष कुछ नहीं किया जाता था। 'मध्यकाल में शिक्षा मूलतः धर्मानुसार थी। हिंदू अपनी धर्मिक विश्वासों के अनुसार अपनी शिक्षा की व्यवस्था करने के लिये स्वतंत्र थे। हिंदुओं को अपनी इच्छानुसार शिक्षा प्राप्त करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी, हालांकि कुछ स्थानों पर मुस्लिम शासकों ने भी इसका विरोध किया। महिलाओं से शिक्षा का अधिकार उत्तर वैदिक काल तक लगभग छीन लिया गया था, इसलिए यह व्यवस्था मुस्लिम काल की तरह ही बनी रही। लड़कियों के जन्म को किसी भी युग में स्वागत – योग्य नहीं देखा जाता था, लेकिन मध्यकालीन समाज में इसे अच्छा नहीं माना जाता था।

तुर्की शासक हिंदू लड़कियों से बलपूर्वक विवाह कर लिया करते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने चालुक्य राजा कर्ण बाघेल की पत्नी कमला देवी से शादी की, और खिज्रखान ने राजकुमारी देवला देवी से शादी की। इस प्रकार, हिंदू अपहरण के भय से अपनी बेटियों को कम उम्र में शादी कर देते थे । इस्लाम का प्रभाव भारतीय समाज में बाल विवाह की प्रथा को जन्म एवम् सक्रियता प्रदान करता है। बाल विवाह की प्रथा ने महिलाओं को शिक्षित करने में काफी हद तक बाधा डालती रही। तत्कालीन समय में शिक्षा के उत्थान का कार्य अपनी गति से गत्यात्मक रहा, लेकिन वह सिर्फ पुरुषों पर ही केंद्रित रहा। इल्तुतमिश द्वारा दिल्ली में मदरसा मुइज्जी की स्थापना की गई थी। मुसलमानों ने अनेक मदरसे खोले। गयासुद्दीन और मुहम्मद तुगलक स्वयं शिक्षित और विद्वान शासक थे, उनके द्वारा कई चिकित्सकों, कवियों और दार्शनिकों को संरक्षण दिया गया था। दिल्ली तत्कालीन समय में शिक्षा का एक बड़ा केंद्र बन गया था, लेकिन दुर्भाग्यवश महिलाएं इन सभी अवसरों से वंचित रहीं।

फिरोज के समय में बहुत से दासों को शिक्षा भी मिली। इनमें से बहुत से दास विद्वान, कलाकार और व्यापारी बन गए। परन्तु स्त्रियाँ अपनी सामाजिक स्थिति के कारण शिक्षा की सभी सुविधाओं से वंचित रहीं, क्योंकि वे दासों की

श्रेणी में थीं। भारतीय समाज में लंबे समय तक अपने घरों में ही रहने वाली महिलाओं को लगता था कि पुरुषों को पढ़ना चाहिए और महिलाओं को अपने घरों में ही स्वस्थ, सुरक्षित और खुश रहना चाहिए। फिरोज तुगलक ने मदरसा की स्थापना की, जो फिरोजशाह तुगलक का शिक्षा के प्रति उसकी गंभीरता को दर्शाता है। राज्य में तीस मदरसों की स्थापना और 'सीरी का मदरसा' शिक्षा के क्षेत्र में उसके सर्वश्रेष्ठ योगदान का परिणाम था, लेकिन महिलाओं के शिक्षा पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

महिलाओं को एशिया के लगभग देशों में प्रताडित करने कि कुछ न कुछ प्रथा विद्यमान थी, लेकिन तुलनात्मक रुप से देश जाए तो हिंदू मुसलमानों कि अपेक्षा इस मामले में अधिक उदार भाव के थे। इसलिए मुसलमानों के भारत में आने से महिलाओं को लाभ नहीं हुआ, बल्कि हानि ही हुआ।

हिंदू महिलाएँ उत्तर भारत में उतनी शोषित नहीं थीं, जितनी कि प्रायः उत्तरी भारत में दिखाया गया है। वह कम से कम अपनी दक्षिण कि बहनों से उतनी ही स्वतंत्रा थी जितनी कि दक्षिण भारत कि महिलाएँ स्वतंत्रा थी। इसका कारण उत्तर कि तुलना में दक्षिण में इस्लाम का कम प्रभाव था। इस्लाम ने भी भारतीय महिलाओं को अपने पतियों की दासता का पाठ पढ़ाया था जैसा कि भारतीय महिलाओं को मिला था। हिंदुओं में बाल विवाह भी प्रचलित था। बाल अवस्था में शिक्षा अवश्य ही मिल जाती होगी किन्तु महिलाएं प्रायः उच्च शिक्षा से वंचित ही रहीं।

हिन्दुओं के उच्च घरानों और जातियों में ही महिलाओं को शिक्षा दी जाती थी, कमोवेश ऐसी ही स्थिति मुसलमानों में भी थी। हिंदू लड़कियाँ अपने माता–पिता के साथ ही घर पर निवास करते हुये शिक्षा ग्रहण कर लेती थी। सामान्य व औसत घरों कि महिलाओं कि सामाजिक और परिवारिक स्थिति दैयनीय होने के कारण शिक्षा उनकें लिये दिवास्वप्न सा था। स्त्रियों से यह अपेक्षा कि जाती थी कि वो घर कि चार दिवारी में सुरक्षित रहे और परिवार के सदस्यों के लिये भोजन पकाने–खिलाने, बच्चों तथा परिवार के अन्य सदस्यों की देखभाल करने का कार्य करे।

इस्लामी शिक्षा का उद्देश्य मुसलमानों के ज्ञान में वृद्धि करना था। शिक्षा का दूसरा लक्ष्य था, इस्लाम के अनुयायियों को ऐसी शिक्षा देना जो उनकी धर्मिक मूल्यों को मजबूत करेगी और उन्हें अच्छे मुसलमान बनने में सक्षम बनाएगी। इसलिए इस्लामी शिक्षा प्रायः धर्मिक थी। इस्लाम का प्रचार भी एक बड़ा लक्ष्य था। शिक्षा ने भारत में इस्लाम का प्रचार–प्रसार किया। शिक्षण संस्थाएं मस्जिदों की तरह पवित्रा थीं। इस काल की शिक्षा का एक और उद्देश्य था, इस्लाम के सिद्धांतों के अनुसार एक विशिष्ट आचरण प्रणाली का निर्माण करना। तत्कालीन समय में रोजगार कि प्राप्ति के लिए भी शिक्षा ग्रहण किया जाता था। उच्च पदों कि प्राप्ति हेतु भी शिक्षा एक सशत्तफ साधन था। इस्लामी शासनकाल में सुल्तानों द्वारा यह देखा जाता था कि अपने उच्च प्रशासनिक पदों जैसे सिपहसालार, वजीर आदि के पदों पर शिक्षित व्यक्तियों को ही नियुत्तफ किया जाता था। इन उच्च पदों को प्राप्त करने में हिन्दुओं ने भी अध्ययन करने का कार्य किया और

विभिन्न राजदरबारों में उच्च पदों को प्राप्त किया। मध्यकाल में ऐसा देखा गया है कि राजदरबार में रोजगार प्राप्त करने के लिये महिलाओं कि हिस्सेदारी का प्रचलन बहुत ही कम था। फलतः अभिभावक अपने बच्चियों को शिक्षा देने से वंचित रखते थे। मध्यकाल में इस्लामी शिक्षा के विस्तार में निहित राजनीतिक उद्देश्यों को भी नहीं भूलना चाहिए।

मुस्लिम शासकों के लिए भारत पर अपनी शासन व्यवस्था, प्रसिद्धि और संस्कृति को मजबूत करना एक बड़ी चुनौती थी। उन्हें लगता था कि शिक्षा इस काम के लिए सबसे अच्छी तरह से उपयुक्त है। मध्ययुगीन शिक्षा प्रणाली धर्मिक पुजारियों और फकीरों द्वारा नियंत्रित थी, इसलिए शैक्षणिक संस्थानों में धर्मिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया गया। यहां ध्यान दें कि मुस्लिम धर्मिक नेताओं और फकीरों को महिलाओं के पर्दानशी होने में बहुत विश्वास था। महिलाओं की शिक्षा की उपेक्षा स्वाभाविक थी क्योंकि वे घर के भीतर अपनी जिम्मेदारियों पर अधिक ध्यान देती थी।

प्राथमिक शिक्षा के लिए मकतब अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान होते थे। जहां बच्चे अध्ययन करते थे जबकि आम लोग अपने बच्चों को मकतब में प्राथमिक शिक्षा देते थे, अमीर लोग कभी–कभी घर पर ही शिक्षक नियुत्त्क्त कर लेते थे। खानकाहों और दरगाहों में भी बचपन की शिक्षा दी जाती थी। बच्चों को शिक्षा देने के लिए खानकाहों के संस्थापक अक्सर एक मौलवी या धर्मिक शिक्षक रखते थे। इन खानकाहों या दरगाहों पर आने वाले चढ़ावा इन संस्थाओं को चलाता था। यह मौलवी और धर्मिक उपदेशक अध्कितर लड़कियों के घर में रहने और पर्दे में रहने का समर्थन करते थे, इसलिए उनकी कक्षाओं में लड़कियों की उपस्थिति शून्य थी।

जब बच्चा चार साल, चार महीने और चार दिन का हो जाता था, तब मकतबों में प्रारंभिक शिक्षा बिस्मिल्लाह की रस्म से शुरू होती थी। विद्यार्थियों को पहले लिपि सिखाया जाता था। शेखसादी द्वारा लिखित फारसी पुस्तकों 'गुलिस्तान' और 'बोस्तान' उनके पाठ्यक्रम में शामिल होते थे। छात्रों को यूसुफ, जुलेख, लैला, मजनू और सिकंदरनाम की कविताएँ भी पढ़ाई जाती थी। प्राथमिक स्कूल के पाठ्यक्रम में प्रारंभिक गणित को भी शामिल किया जाता था।

मुगल साम्राज्य के इस लंबे समय में, दुःख की बात है कि केवल लड़के ही शब्दों को याद कर पाते थे और मकतबों में गूंजने वाली आवाजें सुन पाते थे। देश भर में सामान्य घरों में रहने वाली लड़कियों को इन आवाजों की गूँज सुनना उनकी नियति में नहीं था। आज की तरह कंधे पर बैग और तख्तियां लेकर स्कूल जानेवाली लड़कियों पर कोई विचार नहीं था। शुरू से ही बच्चों को मकतबों में कुरान पढ़ाया जाता था, ताकि वे इस्लाम के मूल सिद्धांतों को समझ सकें। लड़कियों को घरों में अक्सर कुरान पढ़ना सिखाया जाता था।'

यहां मध्यकालीन भारत में उच्च शिक्षा का हाल देखते है तो पाते है कि मदरसा एक उच्च शिक्षण संस्थान था। मकतब की पढ़ाई पूरी करने वाले विद्यार्थी मदरसे में जाते थे। जहां अनुभवी शिक्षक विद्यार्थियों को पढ़ाते थे, यहां उच्च

शिक्षा का पाठ्यक्रम दसवीं से बारहवीं वर्ष तक चलता था। अरबी व्याकरण, साहित्य, तर्क, धर्म, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, गणित, ज्योतिष, कानून, भूगोल, चिकित्सा, कृषि, आदि विषय पाठ्यक्रम में शामिल थे। महिलाएं इन सभी से दूर अपने परिवारों को अपने घरों की दीवारों के भीतर संरक्षण करती रहती थी। बाल विवाह के प्रचलन के कारण, इस समय महिलाओं को मदरसे तक पहुँचने की कोई संभावना नहीं थी। हां, राज्य में राजघराने और अमीर वर्ग की महिलाओं को उनके घरों में ही शिक्षा दी जाती थी। इस प्रवृत्ति ने राजशाही और राजनीति में शाही महिलाओं को बढ़ावा दिया। राजपरिवार की सभी स्त्रियाँ साहित्य और संगीत में पारंगत हुईं, विदुषी बनीं और आदर और सराहना कि पात्र बनीं।

मालवा के शासक गियासुद्दीन ने सारंगपुर में लड़कियों की शिक्षा के लिए एक मदरसे की स्थापना किया था, लेकिन पहली बात यह थी कि उस समय पर्दा – प्रथा के कारण लोग अपनी लड़कियों को बाहर नहीं भेजते थे और दूसरी बात यह थी कि माता–पिता को हर दिन लड़कियों का पूरा खर्च उठाना पड़ता था, जिससे मदरसे का लाभ केवल कुछ अमीर लोगों के परिवारों को हि मिल पाता था। फिर इतने बड़े देश में महिलाओं के मदरसा का क्या अर्थ था? इस दौरान महिलाओं की शिक्षा भी कम हुई। हमारे देश की आधी आबादी पूरी तरह से विकसित नहीं हो सकी है। इस्लाम के महानतम दार्शनिक अल–गजाली के शब्दों से महिलाओं के बारे में मुसलमानों के विचार स्पष्ट होते हैं।

अल गजाली ने लिखा है कि – महिलाओं से सलाह लेना अच्छा है, लेकिन व्यवहार हमेशा उलटा होना चाहिए। अल गजाली ने पर्दा प्रथा का भरपूर समर्थन करते हुए लिखा है कि महिलाओं को जहाँ तक संभव हो घर से बाहर नहीं निकलने देना चाहिए, छत पर नहीं जाने देना चाहिए, न ही दरवाजे के पास खड़े होने देना चाहिए। अल–गजाली ने यह भी कहा कि महिलाओं को न तो अजनबियों की ओर देखना चाहिए और उन्हें अपनी ओर देखने देना चाहिए, क्योंकि दृष्टि ही सभी समस्याओं की जड़ है ।

इस तरह की सोच के बीच लड़कियों को पढ़ने का अवसर देने की बात करना उस समय असम्भव था। व्यक्तिगत शिक्षा का अवसर केवल शाही परिवारों और धनी अमीरों की महिलाओं को ही मिल सकता था। लड़कियां आम तौर पर कम शिक्षित थीं। इस काल में रजिया बेगम, गुलबदन बेगम, नूरजहाँ, जहाँआरा, मुक्तिबाई, जीजाबाई और अन्य विदुषी महिलाएँ भी अपनी योग्यताओं के बल पर उच्च पद को प्राप्त किया था। रजिया सुल्तान महिलाओं में अवसर मिलने पर विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी उपस्थिति का एक अच्छा उदाहरण हैं। जिन्होंने सिंहासन पर बैठने के बाद बड़ी शक्ति हासिल की। इल्तुतमिश की बेटी रजिया अरबी और फारसी दोनों भाषाओं को बोलती थी। उसे कुरान कंठस्थ था। उसका सैन्य अभ्यास भी हुआ था। वह घुड़सवारी और तलवारबाजी में भी निपुण थीं।

कुछ महिलाओं ने कुरान भी पढ़ा। यहाँ तक कि विशिष्ट वकीलों को अलग से शिक्षक नियुक्त करने का चलन था। युद्ध के दौरान बाबर की मां निगार खान भी बाबर के साथ रहती थीं। विपरीत परिस्थितियों में उनकी पत्नी बेगम ने हमेशा

अपने पति का साथ दिया। वह राजधानी दिल्ली के निकट बाबर के बगल में बैठती थी, क्योंकि वह बहुत योग्य थी ।

हुमायूँ के चचेरे भाई सुल्तान निजो की पत्नी हरम बेगम ने अच्छी तरह से प्रशासन किया था। उन्हें नियामत की उपाधि दी गई थी। हुमा की पत्नी बेगम ने अपने पति की कब्र के पास एक शिक्षण संस्थान शुरू किया। अकबर की दावी महामा ने दिल्ली की मंजिल मस्जिद में एक स्कूल खोला। आगरा के जामा मस्जिद में जहाँनारा बेगम ने एक मदरसा खोला। अकबर की मुख्यमंत्री भी अंगा थीं। उसकी माँ मरियम सकानी उपर्फ हमिदा बानो बेगम और उनकी पत्नी सलीमा सुल्तान बेगम ने अकबर के शासनकाल में राजनीति में रुचि दिखाई। 1599 ई. में सलीम ने विद्रोह किया, तो मरियम मकानी ने पिता–पुत्रा पर दबाव डाला था। यद्यपि अकबर स्वयं शिक्षित नहीं था, उसने अपने राज्य में शिक्षण को प्राथमिकता दी। सरकार ने विद्वानों को नियुक्त किया और उन्हें जागीरें भी दीं।स अबुल फजल की सलाह पर उन्होंने शिक्षा का विस्तार करने के लिए पाठ्ड्क्रम और नियम बनाए। पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था को बेहतर बनाने के लिए सरकारी आदेश भी दिए गए। अकबर ने आगरा और फतेहपुर सीकरी में भी मदरसे और मकतब बनाए। इन मदरसों में तर्कशास्त्र, गणित, रेखागणित, गोल विज्ञान, लेखाशास्त्र, कृषि आदि के पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा दी जाती थी।

उस समय आगरा चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा के लिए एक महत्त्वपूर्ण केंद्र था। लेकिन लड़कियों और महिलाओं की इन आदेशों और प्रयासों में भागीदारी शून्य ही थी। यह भी उल्लेखनीय है कि अकबर ने अपने महल में रहने वाली महिलाओं के लिये नियमित शिक्षा की व्यवस्था की थी। उसने फतेहपुर में लड़कियों के लिए एक स्कूल खोलवाया था। अकबर की दूसरी पत्नी सलीमा सुल्ताना बेगम पफारसी बोलती थी और मारवाफी के छप्र नाम से कविताएँ लिखती थी, उनका एक अपना ग्रंथालय भी था ।

नूरजहाँ जहाँगीर के शासनकाल में सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में बहुत प्रभावशाली थी। उनकी क्षमता दोनों सेना और प्रशासन में दिखाई दी। मुस्लिम लड़कियों की शादी के लिए सरकार से दान की व्यवस्था भी कि थी। नूरजहाँ ने समृद्ध फैशन को अपनाया। माना जाता है कि शाही परिवार की कुछ महिलाओं ने भी निजी व्यापार में रुचि दिखाई और सामान भेजने के लिए अपने स्वयं के जहाजों की व्यवस्था की। जहाँगीर के माँ के जहाज की माल ढोने की क्षमता बारह सौ टन था। नूरजहाँ के पास भी एक व्यापारिक जहाज था, उन्हें विदेशी व्यापार में दिलचस्पी थी। उसका भाई आसफ खाँ नूरजहाँ का सबसे बड़ा प्रतिनिधि था। मुमताज महल शाहजहाँ के राज में एक महत्त्वपूर्ण महिला थी। मुमताज महल की मृत्यु के बाद उनकी बेटी जहांआरा सरकार और परिवार की ढाल बनीं। शाहजहाँ के बेटे औरंगजेब ने सत्ता हासिल करने के लिए अपने भाइयों की हत्या कर दी और अपने पिता शाहजहाँ को कैद कर लिया, लेकिन उसने अपनी बहन जहाँआरा को कोई नुकसान नहीं पहुँचाया। शाहजहाँ के बेटे औरंगजेब ने सत्ता हासिल करने के लिए अपने भाइयों की हत्या कर दी और अपने

पिता शाहजहाँ को कैद कर लिया, लेकिन उसने अपनी बहन जहाँआरा को कोई नुकसान नहीं पहुँचाया।

जहानारा ने अपना शेष जीवन अपने पिता शाहजहाँ की सेवा और अपने मृत भाईयों के बच्चों की देखभाल में बिताया। शाहजहाँ तुर्की बोलने में बहुत कुशल था। उसके शासनकाल के दौरान प्रसिद्ध गणितज्ञ ने नक्षत्रों की एक तालिका बनाई और उलुगवेग द्वारा बनाई गई पिछली तालिका को संशोधित किया। यह 'जिये शाहजहानी' कहलाया। शाहजहाँ ने विद्वानों को भी संरक्षण दिया। चंद्रभान ब्राह्मण, एक प्रतिष्ठित लेखक, उनके प्रिय संरक्षित विद्वानों में से एक थे। विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में उनकी पुस्तक 'मनशते ब्राह्मण' शामिल थी। शाहजहाँ ने अब्दुल हकीम सियालकोटी, मुल्ला मुहम्मद पफाजिल और काजी मुहम्मद असलम को भी संरक्षण प्रदान किया। यहां भी महिलाओं के लिए इस्लामी व्यवस्था में निर्धरित प्रतिबंधें को नहीं तोड़ा जा सका।

लड़कियों की शिक्षा के प्रति शाहजहाँ भी उदार नहीं था। सभी बच्चियां, छोटी या बड़ी, अपने घरों में कैद हो गईं। परिवार की शिक्षा ही उनके भविष्य का आधर थी। उस समय भारतीय समाज उनकी बुद्धि से लाभ नहीं उठा सका। यह चलने के लिए पैरों में लोहे की बेड़ियाँ डालने की तरह था। ये धीमी गति से चलने वाली महिलाएँ खुले मैदानों में दौड़ सकेंगी और ठंडी हवा के झोंकों को छू सकेंगी, ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता था। हां, राजमहलों में बड़ी हुई राजकुमारियों की स्थिति इनसे यकीनन बेहतर थी। औरंगजेब ने अपनी बेटी जेबुन्निसा बेगम को पढ़ाने के लिए दो शिक्षित फारसी महिलाओं, हाफिजा मैरी और मुल्ला सईद अशरफ मजध ारानी को भी नियुक्त किया था। जेबुन्निसा को कुरान जुबानी याद था। उन्होंने नक्षत्र और गणित का ज्ञान अर्जित किया था। वो लेखन में प्रवीण थी। उनके पास एक अनुवाद विभाग भी था, जहां उन महान साहित्यिक पुस्तकों का अनुवाद किया जाता था। मुस्लिम महिलाओं ने संगीत में भी भाग लिया। नसरत खातून और फतुहा दो बड़ी गायिका थीं, जो जलालुद्दीन खिलजी के राज्य में सेवारत थी।

ललित कला में भी ये राजकुमारियाँ और रानियाँ किसी से पीछे नहीं थी। नूरजहाँ चित्रकला में रुचि रखती थी और सजावट में भी अच्छी थी। उनका काम था, नए कपड़े और कालीन बनाना। बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम भी अलंकरण कला में प्रवीण थी। रानियों और राजकुमारियों ने महलों और बगीचों की देखभाल और साज–सज्जा में अपनी कला का बेहतरीन प्रदर्शन किया था। उन्हें खूबसूरती से किसी भी वस्तु, विषय या पदार्थ को सजाने में महारथ हासिल था ।

राजघराने की महिलाएँ कभी–कभी खुद गाती थीं। जेबुन्निसा और नूरजहाँ दोनों बेहतरीन गायिका थीं। उन्होनें कविता भी लिखी थी। जन्मदिन और विवाह में मालवा और गुजरात के गायक ताल के साथ सोहल और ध्रुपद गाते थे। यहां एक खास बात यह है कि इस पूरे समय में हिंदू–इस्लाम की शिक्षा व्यवस्था से अधिक प्रभावित नहीं थे। इस्लाम की शिक्षा और प्राचीन हिंदू शिक्षा दोनों मध्ययुग में लोकप्रिय थी। मुसलमानों ने अपना अधिकांश समय युद्धों में बिताया।

■

आदिवासी अस्मिता में नारी संघर्ष का सामाजिक प्रतिबिंब

नागेन्द्र कुमार*

आदिवासी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है, 'आदि' और 'वासी'। आदि का अर्थ 'मूल' और 'वासी' का अर्थ 'निवासी' होता है। अतः आदिवासी शब्द से तात्पर्य धरती के मूल निवासी से है, जो सभ्य जगत से दूर पर्वतों और जंगलों में दुर्गम स्थान पर निवास करते हैं। 'आदिवासी' शब्द का शाब्दिक अर्थ है – ''आदिकाल से देश में रहने वाली जाति।'' भारत में आदिवासियों को अनेक नामों से पुकारा जाता है। जैसे – जनजाति, वनवासी, गिरिजन, बर्बर आदि।

आदिवासी लेखक 'माया बोरसे' ने आदिवासियों को भारत का मूल निवासी मानते हैं। वे कहती हैं – ''आदिवासी समाज ऐसा समाज है जिसके नाम में ही उसकी पहचान छिपी हुई है। आदिवासी शब्द के लिए 'मूलनिवासी शब्द का भी प्रयोग किया जाता है अर्थात् आदिवासी समाज इस भूमि का मूल निवासी है और वही इस भूमि का उत्तराधिकारी भी है।'' भारत में आदिवासियों के इतिहास पर हम गौर करें तो इनका इतिहास संघर्ष का इतिहास रहा है। सदियों पहले आदिवासियों को सभ्यता से बहिस्कृत कर जंगलों में धकेल दिया गया। फिर भी इन जन–समुदायों ने जंगलों में जीवन–यापन करते हुए अपनी संस्कृति की विरासत कायम रखी और पूरे आत्म–सम्मान के साथ जीते रहें। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं – ''एक पराजित समूह होते हुए भी आदिवासियों ने अपनी संस्कृति, भाषा, अपने जीने की सामूहिक शैली, परम्पराओं और रीति–रिवाजों की विरासत को जिंदा रखा है। जब–जब आदिवासियों के संस्कार, रीति–रिवाज, परम्परा व अस्मिता को नष्ट करने का प्रयास किया है, तब–तब ये लोग बाहरी घुसपैठ के खिलाफ उठ खड़े हुए हैं।''[1] असल में आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न उनके जल, जंगल, जमीन तथा प्राकृतिक संसाधनों के अधिकारों से जुड़ा हुआ है। अंग्रेजों से लेकर शोषण के तमाम तंत्रों ने आदिवासियों पर अत्याचार किया। अपनी अस्मिता व आत्मसम्मान को बचाने के लि, आदिवासियों ने अंग्रेजों के पक्षपात, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ 'कोल विद्रोह' (1785 ई0), 'संथाल विद्रोह' (1855 ई0), 'मुण्डा विद्रोह' (1900 ई0) आदि अनेक जन आंदोलन हुए।

*पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय के शोधछात्र। संपर्क : गाँव–चितौर, पो॰– दसौत, समस्तीपुर–948209, मो. – 9430478502

इन विद्रोह के माध्यम से आदिवासियों ने अपनी अस्मिता, अधिकारों जीवन एवं भूमि की सुरक्षा के साथ अपने सम्मान व अस्तित्व को पुनः स्थापित किया। मुंडा विद्रोह के संबंध में 'नदीम हसनैन' ने लिखा है – ''सभी प्रकार के शोषण और अत्याचारों के विरुद्ध मुंडा विद्रोह भी जनजातीय आक्रोश का उत्कृष्ट उदाहरण है।''[2] रूपचन्द्र वर्मा 'कोल विद्रोह' के संबंध में लिखा है – ''इसे 1857 की महान क्रांति के पूर्व का स्वतंत्रता संग्राम कहा जा सकता है।''[3]

हरिराम मीणा आदिवासी जीवन एवं उनके अस्तित्व पर आये संकट के विषय में लिखते हैं – ''आदिवासियों की मूल समस्या अंततः अस्तित्व के संकट की बन चुकी है। आदिवासियों को तो यह भी पता नहीं कि उन पर यह अस्तित्व का संकट क्यों है? वे भौंचक्क हैं किन्तु मौन! इसीलिए आदिवासी साहित्य के तेवर अलग होंगे।, उसे कविता के रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है – 'जिन्होंने हमें गोलियों से भूना/वे इंसान थे,/जिन्होंने हमें टापुओं से इधर–उधर खदेड़ा/वे इंसान है/और जो हमारी नस्ल को उजाड़ेंगे/वो इंसान होंगे''[4]

आदिवासी महिला पारिवारिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, राजनैतिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र तथा कलाओं के क्षेत्र में आदिवासी नारी संघर्ष करती हुए आगे बढ़ रही है। आदिवासी परिवारों में कन्या के विवाह के समय वर पक्ष से धन लिया जाता है, जिससे नारियों को उच्च एवं सम्मानजनक स्थान मिलता है। यह परम्परा कुछ ही आदिवासी परिवारों में प्रचलित है। वीणा सिन्हा के 'सपनों के बाहर' उपन्यास में श्रीमती सिंह जब लड़कियों के पढ़ने का विरोध करती हैं और उन्हें पारिवारिक जिम्मेदारियाँ निभाने के लिए कहती है, तब निशिगंध कहती हैं – ''यह रानी का मान पाकर औरत और भी अधिक गुलाम हो जाती है ? साधरण गुलाम तो मालिक के डर से गुलामी करते हैं, परन्तु औरत तो स्वेच्छा से भावात्मक गुलामी करती है। इस व्यवस्था में महिलाओं को पूरी तरह गुलाम बनाने की साजिश है। उन्हें छुट्टी में पिलाया जाता है कि उनके चरित्र के आदर्श पुरूषों के आदर्श से बिल्कुल अलग हैं। उन्हें यह एहसास कराया जाता है कि दूसरों की अधीनता स्वीकार करने में ही सार्थकता है। सभी नैतिकताँ, स्त्री–स्वातंत्र्य के खिलाफ है।''[5]

मातृ–सत्तात्मक परिवारों में जहाँ सम्पत्ति का हस्तान्तरण नारी पक्ष की ओर अर्थात माँ से पुत्री की ओर होता है, ऐसे समाज में निःसंदेह नारियों की स्थिति श्रेष्ठ पाई जाती है। खासी तथा गारों आदिवासियों को इसके उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं। आदिवासी समाज में पुरूष स्त्री को एक वस्तु समझता है। रमणिका गुप्ता के 'सीता मौसी' उपन्यास में मौसी के बारे में कहा गया है – ''ऐसे समाज की औरत जहाँ, वह केवल एक 'जिन्स' (चीज) समझी जाती है – मनुष्य नहीं। हर 'जिन्स' को संभालकर रखने वाले बलिष्ठ हाथों की जरूरत उसे होती है, जो उसे साफ सुथरा रखें, उसे टूटने फूटने से बचाएँ, गुम होने, लुटने –लुट जाने से बचाएँ, उसे निखारे – सँवारे और प्रेम करें, भोगें और अपने कब्जें में रखें भी, अपना कहें अपनाएँ। यह तो आदमी की फितरत है कि वह खुद सोच सकता

है, निर्णय ले सकता है पर औरत की सोचने की क्या जरूरत ? वह तो बस औरत है न। उसके लिए तो सोचने के लिए बाकी सब मादवन हैं ही। वह तो 'जिन्स' है न तो जिन्स अपने बारे में सोचा नहीं करती।''[6] हमारे भारतीय सभ्यता में एक स्त्री सिर्फ पुरूष का साथ चाहती है, जो उसके साथ हर पल सुख एवं दुःख में साथ रहे, पन्तु हमारा पुरूष सत्तात्मक समाज एक वस्तु की तरह समझ गलती कर बैठता है।

आदिवासी समाज में वचन निभाने की परम्परा है। राकेश कुमार सिंह के 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में शंख रूण्डा अपने गुरू को गुरू–दक्षिणा के रूप में अपनी पत्नी लाली को दे देता है। यहाँ पर स्त्री को भी दाँव पर लगा दिया गया है। पंचायत बैठायी जाती है, जिसमें लाली भी आती है। ''पुरूषों की पंचायत में लाली के सम्मान से अधिक गहन विमर्श का विषय था उराँव की आन। पुरूष जाति का मान सर्वोपरि था। इस बहस में लाली की इच्छा–अनिच्छा का प्रश्न गौण था। मुख्य था पुरूषों द्वारा स्थापित रीति–रिवाजों की रक्षा का प्रश्न।''[7]

रमणिका गुप्ता के बहु–जुठाई कहानी संग्रह मे जिरवा और उसकी माँ का पुरूषों द्वारा उपभोग किया गया।'' दोनों बड़ी आसानी से एक मरद से दूसरे के हाथों में फिसलती रही थीं, जैसे इनका अपना कोई अस्तित्व न हो, अपनी कोई मरजी ही न हो।''[8]

पुरुषवादी समाज में प्रायः स्त्री के स्वाभिमान को ठेस पहुँचायी जाती है। तुम पुरूषों की गुलाम हो, चुल्हा जलाना और बच्चों की देखभाल करना ही तुम्हारा काम है, इत्यादि शब्द कहकर स्त्रियों के स्वाभिमान को कुचला जात है। आदिवासी समाज में व्याप्त पुरूषवादी सत्तात्मक समाज से आदिवासी स्त्री दुःखित है। वहाँ भी जनजातीय उँच–नीच के आधार पर सामाजिक विषमता है तो वर्गीय शोषण के आधर पर गरीबी और अमीरी का भी विभेद व्याप्त है। आदिवासी स्त्री अपनी अस्मिता व अस्तित्व के लिए आज भी संघर्षरत है। डॉ0 रमया बलान ने अपने आलेख–'निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी स्त्री' में कहती हैं–''आदिवासी समाज में स्त्रियों की स्थिति मुख्यधारा समाज से कई मायनों में भिन्न हैं और स्त्रीत्व के नाते उनमें कुछ समानताएँ, भी देखी जा सकती हैं। मुख्यधारा की तुलना में आदिवासी समाज की स्त्री स्वतंत्र होती हैं, लेकिन परिवार में वह पितृसत्ता की शिकार होती है। स्त्री किसी भी समाज में हो उसे दूसरे दर्जे की मान्यता ही मिलती है। आदिवासी स्त्री ज्यादातर बाहरी समाज के द्वारा शारीरिक और मानसिक रूप से पीड़ित होती है। कई बार नौकरी का वादा देकर दलाल इन्हें वेश्याओं की गलियों में छोड़ देते हैं।''[9] निर्मला पुतुल अपनी कविता 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए' में स्त्री के स्वर को बुलंद करती हुई कहती हैं –

क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए, एक तकिया, कि सिर टिका दिया, कोई खूंटी, कि उब उदासी थकान से भरी कमीज उतार कर टांग दी, या आंगन में तनी

अरगनी, कि घर–घर के कपड़े लाद दिए, कोई घर कि सुबह निकला, शाम लौट आया।''[10]

आदिवासी समाज में बहुत सारी ऐसी बातें हैं, जिनसे स्त्रियों को आगे बढ़ने से रोका जाता है। पुरूष सत्तात्मक समाज में उसे कोई अधिकार नहीं दिए जाते हैं। आदिवासी महिलाओं के समग्र विकास के लिए एक प्रारूप बनाना चाहिए। जिसमें महिलाओं की समस्याओं पर ध्यान देना चाहिए। तभी जाकर भविष्य में ये अपना विकास कर सकेगा। रोजगार देने के नाम पर सरकार जो योजनाएँ बना रही हैं, उनमें आदिवासी महिलाओं की सहभागिता को बढ़ा, जाए, जिससे इन्हें ये महसूस हो की सरकार हमारे लिए विकास का कार्य कर रही है। आज आदिवासी समाज में औरतों को लेकर सोच में परिवर्तन होना चाहिए, तभी उन्हें हमारे समाज में इन्हें बराबरी का हक मिलेगा।

निष्कर्ष :–

आदिवासी महिलाएँ स्वाबलंबी होती है। वे खुद कमाकर अपना जीवन–यापन तथा परिवार का भरन–पोषण कर सकती हैं। बस पुरूषवादी समाज वे सारे अधिकार इन्हें दिया जो पुरूषों को है। हमें आदिवासी महिलाओं के प्रति सोच में परिवर्तन करना होगा, तभी उन्हें समाज में बराबरी का हक मिलेगा। आदिवासियों में महिलाओं को बराबर का दर्जा दिया गया है। पारिवारिक शेष में भी वे अपनी सक्रिय भूमिका निभा रही है। आज हम देखे तो आदिवासी नारी पर आधुनिकता का प्रभाव पड़ रहा है तथा वे सभी शेष में पुरुष सत्तात्मक समाज के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही है।

सन्दर्भ सूची :–

1. आदिवासी अस्मिता के प्रश्न : रमणिका बुप्ता, हाशिये का वृतांत, संपादक – दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, पृ0 – 353
2. जनजातीय भारत : नदीम हसनैन, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 2002, पृ0 – 265
3. भारतीय जनजातियाँ : रूपचन्द्र वर्मा, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली 2003, पृ0–46
4. आदिवासी दुनिया : हरिराम मीणा, पृ0 सं0 – 203
5. सपनों से बाहर : वीणा सिन्हा, मेध बुक्स – पृ0 सं – 205
6. सीता–मौसी : रमणिका गुप्ता, ज्योतिलोक प्रकाशन, पृ0 सं – 54
7. जो इतिहास में नहीं है : राकेश कुमार सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ0 सं–73
8. बहू–जुठाई : रमणिका गुप्ता, शिल्पायन प्रकाशन, पृ0 सं – 117
9. अपनी माटी, साहित्यिक ई0 पत्रिका : जितेन्द्र यादव ृैछ 2322–0724 अंक 26 मार्च 2017 पृ – 2
10. नगाड़े की तरह बजते शब्द : निर्मला पुतुल, भारतीय ज्ञानपीठ 2005, पृ0–28

■

अस्मितामूलक विमर्श

दलित आत्मकथाओं से झांकता ग्रामीण–जीवन

रणविजय कुमार *

भारत गांवों का देश है, जिसकी अधिकांश आबादी ग्रामीण–जीवन यापन करती है। अधिकांश दलित आत्मकथाएं आंचलिक जीवन से जुड़ी रही है। ग्रामीण जीवन का सच ज्यादा कटु और हिला देने वाला होता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' पर बात करना मुश्किल काम है, क्योंकि जितनी यातनाएं पीड़ा और कष्ट लेखक को मिला है, दुख भरा और कटु है, 'घर–घर से जूठ इकट्ठा करना और बारातों से मिली पूड़ी को सुखाकर बरसात के दिनों में काम में लाना आदि की स्मृतियां लेखक के मन में कांटे की तरह आती हैं। भूख से लगातार लड़ते इस समाज के प्रति अनेक संवेदनशील रुप से अमानवीय व्यवहार व बर्बरता बरती जाती रही है, एक लंबा दौर (अंबेडकर और फूले से पहले) इस विषय पर मौन रहा, यथार्थ कठोर सच्चाईयों की लगातार अनदेखी की।'[1], यह समझा जा सकता है कि समाज में कुरीतियां हैं, सभी गैर बराबरी की खाई को कम नहीं करती, बल्कि और गहरा करती है।

'शिकंजे का दर्द' (2011) आत्मकथा की दलित लेखिका सुशीला टाकभौरे, जो कि एक लंबा संघर्षमयी जीवन जीने वाली उच्च शिक्षा में व्याख्याता रही, अपनी मुफलिसी का वर्णन इस तरह किया है 'घर के सभी कपड़े धोने की धोबी छाप साबुन से नहाते थे। कभी–कभी कपड़े धोने का साबुन नहीं रहता। मां कास्टिक सोडे के सफेद पाउडर को ठंडे पानी में डालकर ठंडा करती, फिर उससे हमारे बाल धोती थी। उसी सोडे के पानी से हमारे हाथ–पैर साफ करती थी। जब मेरी बिटिया नहाने के लिए नए–नए, मंहगे सुगंधित साबुन की मांग करती है और विज्ञापन देखकर नए–नए शैंपू मांगती है, तब मुझे मेरी मां याद आती है और मां का नहलाना याद आता है।'[2], समय के साथ ही साथ समाज के यथार्थ में भी परिवर्तन हुआ है, सुशीला टाकभौरे जी ने स्वीकार करके अपनी आत्मकथा वर्णन में बदलाव के सभी दृश्य पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

इसी तरह मोहनदास नैमिशराय ने आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' में लिखा है कि 'पुलिस चौकी पीर और मंदिर इन तीनों का ही हमारे दलित जीवन में बड़ा विरोध था। कोई शायद ऐसा जाता होगा जब जाटव गेट पुलिस चौकी के रोजनामचे में कोई रिपोर्ट दर्ज न होती होगी या मजार पर कोई मां अपने बेटी की सलामती

* पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय में शोधछात्र। संपर्क– गाँव–बलरामपु, पो.–राजे सुल्तानपुर, अम्बेडकरनगर–224176 (उ.प्र.), मो.–9415211248

के लिए बताशों के साथ कपड़े का टुकड़ा न चढ़ाती होगी या फिर मंदिर के सामने से आते जाते बस्ती में रहने वाला किसी का बाप, किसी का भाई या किसी का चाचा अपनों की रक्षा के लिए मूर्ति के सामने खड़ा होकर प्रार्थना न करता होगा। बस्ती के लोग लुगाई इन तीनों की मेहरबानियों को अच्छी तरह से महसूस करते थे।'[3], ऐसा ही ग्रामीण जीवन इन आत्मकथाओं में देखने को मिलता है।

दलित लेखक सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कार' (2002) बहुत चर्चित रचना है। जिसमें अनेक देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो हमारे शब्दकोश और समझ में अतिरिक्त वृद्धि करते हैं, जिससे लगता है कि प्रत्येक शब्द के पीछे एक पूरी परंपरा है। जो इस प्रकार है 'दलित आत्मकथाओं का एक मज बूत पक्ष उनमें ग्रामीण शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। यही बात इस आत्मकथा पर भी लागू होती है। सूरजपाल का बचपन गांव में बीता, अतः देशज शब्दों का प्रयोग यहां स्वाभाविक रूप से हुआ है। बसीठों (सवर्णों), बेझर, घेंटा–घेंटिया (सूअर के छोटे बच्चे), अरहर की लौंद (संटी), चिलर, पगाह, डींगर (जुएं), दाया (अनाज को भूसे से अलग करवाना), चौंतरिया (देहरी के पास बना हुआ चबूतरा) इत्यादि स्थानीय भाषा का प्रयोग करते हैं, यह आत्म कथाएं साहित्य शास्त्र की उस कल्पित–कथा को तोड़ती हैं, कि आज का प्रतिष्ठित व्यक्ति ही आत्मकथा लिख सकता है।'[4], अतः यह देशज शब्द हमारे शब्दकोश और समझ में वृद्धि करते हैं। इस प्रकार यह पाया गया की यहां जमीनी स्तर पर विविधता से संपन्न दर्जनों दृश्य हैं जिसमें हम दलित वर्ग के संसार को समझ सकते हैं।

'मुर्दहिया' (2010, प्रथम भाग) दलित साहित्यकार डॉ० तुलसीराम की आत्मकथा है, जिसके माध्यम से लेखक ने कई वर्षों से दलित आत्मकथा में साहित्य जगत के बंधे–बंधाये मानदंडों को तोड़कर जीवन से जुड़े उस सच्चे और कड़वे यथार्थ को सबके सामने उजागर करने का प्रयास किया है, जिसे उन्होंने स्वयं झेला है। प्रोफेसर तुलसीराम ने बौद्ध धर्म एवं वर्ण व्यवस्था को विश्लेषित करते हुए लिखा है, कि– 'बुद्ध व्यवस्था विरोधी वैचारिक अभियानों के चलते अनेक समकालीन ब्राह्मण गांव में उनका बहिष्कार किया गया था। कट्टर ब्राह्मण बौद्धों को मुंडक कहकर शिक्षा देने से मना कर देते थे, उस समय 'मुंडक' शब्द का अर्थ शूद्र से लगाया जाता था। वे बुद्ध को भी मुंडक कहकर संबोधित करते थे।'[5], हमारे समाज में भेदभाव की लकीरें आज से नहीं बल्कि अरसे से चली आ रही है।

डॉ तुलसीराम की आत्मकथा का पहला खंड 'मुर्दहिया' (2010) काव्यमय है, जिसमें लोक कथाएं लोक कविता भी है। आत्मकथा का लेखन केवल जातिगत भेदभाव को ही लेकर नहीं हुआ है, बल्कि यहां लोक का अर्थ संसार से है। जिसके विस्तार में लेखक डॉ0 तुलसीराम बहुत सी गीतों का हवाला देते हैं। मुर्दहिया में तरंग के गीत और संगीत का भी महत्व है। गांव में दलित जातियों के बीच अनेक प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रम– नृत्य की उपस्थिति अनिवार्य होती है, इत्यादि प्रवृत्तियों का चित्रण डॉ0 तुलसीराम ने मुर्दहिया में किया है।

प्रोफेसर तुलसीराम ने अपने चिर परिचित अंदाज में लिखा है कि 'उस जंगल में मैं जैसे–जैसे आगे बढ़ रहा था मुर्दहिया पीछे छूटती जा रही थी और साथ ही छूट रहे थे, इस प्रियास्थल के अनगिनत यादों के ढेर। गौतम बुद्ध के लिए

जो स्थान था आम्रपाली का, संभवतः वहीं थी मेरे लिए नटिनिया। इस सब के बीच मेरी मस्तिष्क पर हावी हो गई मेरी 'अशगुन' वाली छाया। चेचक से जिस दाई आंख की रोशनी चली जाने के कारण लोग मुझे देखकर रास्ता बदल देते थे, उससे भी जलधारा फूट पड़ी थी, जितनी कि रोशनी वाली आंख से। जंगल की निर्जनता का फायदा उठाकर मैं बेधड़क रूदन प्रक्रिया का शिकार हो गया।'[6], ग्रामीण परिवेश में कितनी ही कमियां क्यों ना हो कोई भी अपनी जड़ों से बिछड़ना नहीं चाहता।

ग्रामीण लोगों को अक्सर नौकरी की तलाश में कुछ समय के लिए घर गांव का त्याग कर शहरी परिवेश की ओर रूख करना पड़ता है। गांव व शहरी परिवेश की तुलना करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि 'गांव से बेहतर दिल्ली तो थी ही, पर गांव में जाकर रहने का अलग आकर्षण था। वहां जितना खुलापन था दिल्ली में उतना ही छोटी–छोटी गलियों में बंद डिब्बे जैसी मकानों में रहने की विवशता। गांव में अथाह गरीबी होती है, फिर भी एक दूसरे के सुख दुख में सम्मिलित होने की भावना थी और शहर में थोड़ा पैसा होने के बाद एक दूसरे से बचना चाहते थे, पर शहरों की दलित बस्तियों में तब तक ऐसा नहीं था।'[7], इस प्रकार नैमिशराय जी ग्रामीण जीवन को जीवन से बेहतर बताते हुए कहते हैं कि गांव में सब कुछ बुरा नहीं होता बहुत कुछ बचे हुए की तरह खुशी भी देता है। 'ग्रामीण परिवेश में अनेक जातियों, समुदायों एवं गोत्रों के लोगों का एक साथ जीवन यापन होता है, जैसे चमार, रविदास, धूनिया, जाटव, जायसवाल, रैदासी, संखवार इत्यादि एक जाति परिवार की अनेक शाखाएं थी, उनके व्यवसाय कहीं एक जैसे ही थे, कहीं अलग–अलग। इनमें से कुछ लोग अपने को क्षत्रिय वंश से जोड़कर अपने नाम के आगे सिंह लगाने लगे तथा कुछ लोग अपने नाम के आगे केन, खेम, निम, पिप्पल इत्यादि लिखने लगे।'[8], लेकिन क्या बात है? कि कुछ लोग अपनी जाति और गोत्र छिपाने लगे हैं। गोत्र आदि लगाने से नुकसान किन्हें है? और फायदे में कौन है? समीकरण समझना जरूरी है। क्योंकि ग्रामीण भारत को लेकर हमारे मानस पटल पर कई तरह की छवियां स्थित हो जाती हैं, जिसका संदर्भ इस प्रकार है 'उच्च जातियों के द्वारा निम्न जातियों का उनके नाम की बजाय जाति का नाम लेकर जैसे चूहड़ेया चमार के या उनके पिता का नाम लेकर फलाने के अथवा किसी बिगड़े नाम से पुकारने की परंपरा है।

ओम प्रकाश जी कहते हैं कि किस तरह से भारतीय समाज में उच्च जातियों द्वारा निम्न जातियों अथवा समाज के दबे–कुचले गरीब और कमजोरों को उनके नाम की बजाय जाति के नाम से पुकारते हैं। बस्ती में ओम प्रकाश कहने वाला मेरी मां को छोड़कर और कोई नहीं था तथा पिता जी प्यार से 'मुंशी जी' कहते थे।;[9], नाम बिगाड़ना असल में किसी के आत्मविश्वास को कुचलना होता है ताकि उनके आगे के कई रास्ते आप बंद हो जाए। इससे यह प्रतीत होता है भारतीय समाज में किस तरह भेदभाव कायम था? स्पष्ट हो जाता है।

गांव में स्थित दलित बस्तियों के लोगों में अंधविश्वास इतना कूट–कूट कर भरा है, सभी दलित आत्मकथाओं में आसानी से मिल जाते हैं, जैसे ओम प्रकाश जी के 'जूठन' में देखा जा सकता है 'भूत प्रेत की छायाओं के प्रति पूरी बस्ती में अजीब माहौल था। जरा भी किसी की तबीयत खराब होती तो, डॉक्टर के बजाय भगत को बुलाया जाता था। भगत के शरीर में देवी देवता प्रकट हो जाने पर

बीमार को दिखाया जाता था। अक्सर किसी भूत के प्रभाव का जिक्र करते भगत भूत पकड़ने की क्रियाएं करता था जिसके बदले में देवी–देवताओं पर सूअर, मुर्गे, बकरे और शराब चढ़ाई जाती थी।'[10],

इसी तरह डॉ0 तुलसीराम के मुर्दहिया में भी देखने को मिलता है– 'बस्ती के पुराने कुएं में पानी निकालते एक औरत उसमें फिसल कर गिर गयी। जब तक लोग उसे निकालते वह मर चुकी थी। उसी लाश को मुर्दहिया पर दफना दिया गया। पहले से ही घोर अंधविश्वासों तथा भूत–भूतनियो के आतंक से पीड़ित हमारी दलित बस्ती की कुएं में गिरकर मरी हुई, नई चुड़ैल का भय पूरी तरह से छाने लगा। लोगों ने कुएं का पानी पीना बंद कर दिया और दावा करने लगे कि रात में उन्हें जोर–जोर से पानी हलकने की आवाज सुनाई देती है।'[11],

डॉ0 तुलसीराम की आत्मकथा का प्रथम भाग मुर्दहिया (2010) उस स्थान का नाम है, जहां मुर्दे जलाए और दफनाए जाते थे। वैसे ही उनकी आत्मकथा का दूसरा भाग मणिकर्णिका (2013) है। मणिकर्णिका बनारस का वह घाट है जहां शवों का अंतिम संस्कार होता है। इस तरह आत्मकथा के दोनों भागों का आधार– मृत्यु और करुणा है। मुर्दहिया में दलितों के जीवन की सदियों से व्यक्त त्रासदियां, उत्पीड़न व भेदभावपूर्ण स्थितियां उजागर हुई है। आत्मकथाओं का एक बड़ा सच ग्रामीण जीवन को समझे बगैर नहीं जाना जा सकता है।

आज के ग्रामीण परिवेश में कुछ सकारात्मक परिदृश्य देखने को मिलते हैं जिसका उल्लेख वाल्मीकि जी ने किया है, 'एक और विशेष बात उस रोज हुई थी । चमन लाल त्यागी मेरे पास होने की बधाई देने हमारे घर आए थे। ऐसा पहली बार हुआ था जब कोई त्यागी चूहोड़ों के घर पर बधाई देने आया था, बल्कि इससे भी ज्यादा बड़ी बात यह हुई की चमन लाल त्यागी मुझे अपने घर ले गए थे। बेहद आत्मीयता के साथ पास बैठकर दोपहर का खाना भी खिलाया था। वह भी अपनी बर्तनों में। छुआछूत के माहौल में यही एक विशेष घटना थी।'[12],

'प्रचंड अकाल ग्रस्त गर्मी में दोपहर का समय था। उस पेड़ के करीब ढाई सौ गज की दूरी पर पत्तू मिसिर का घर था। वह भी वहीं से मलदहिया (आम) की तरफ देखा करते थे। चिखुरी को कभी इधर तो कभी उधर पेड़ के इर्द–गिर्द आम बीनते देखकर पत्तू मिसिर आसन की तो होकर गालियां देते हुए लाठी लेकर दौड़ पड़े। उन्हें देखकर चिखुरी तुरंत भाग कर मुर्दहिया की तरफ चले गए। मैं पेड़ पर काफी ऊंचाई पर था इसलिए नीचे नहीं उतर सका, इस बात से बुरी तरह डरा हुआ था की आज पत्तू मिसिर बुरी तरह पिटाई करेंगे।'[13], अतः इस प्रकार प्रकृति और उसके साथ मानवीय समाज के रिश्तो की एक लंबी परंपरा और समझ है जो कि प्रस्तुत संदर्भ में समीचीन है।

'शिंकजे के दर्द' हिन्दू समाज की विडम्बनाओं को उजागर करती है। 'हिन्दू धर्म में नदी पहाड़ पेड़ पौधे जानवर सभी को महत्त्व और सम्मान दिया जाता है। लेकिन अछूत मनुष्यों को कोई स्थान नहीं कोई सम्मान नहीं। हिन्दू धर्म के आडम्बर में मिट्टी से बने पुतलों को भी भगवान की तरह पूजा जाता है। मगर इन्सानों को इन्सान नहीं मानते। यह हिन्दू धर्म की विडम्बना है हिन्दू संस्कृति का कंलक है। लोग इसे ही धर्म कहते हैं।' वर्षों से मनुवादी लोगों द्वारा दलितों पर

किये जाने वाले अन्याय अत्याचार, सम्पूर्ण शोषण, सौतेले व्यवहार के कारण उसके भीतर की क्रोधाग्नि आज प्रचंड रूप ले रही है। यह स्वातंत्र्य समता, बन्धुत्व आदि के मांगने में विश्वास नहीं रखता अपितु छीनकर लेने को ही उचित ठहराया है। स्कूलों में अछूत लड़कों की जमकर पिटाई करते थे। सुशीला जी को भी अछूत होने के कारण डरना पड़ता था। अछूत दलित नारी पर अत्याचार और बलात्कार सामान्य बात होने के कारण घर से कहीं बाहर नहीं भेजते थे। हर समय उनकी सुरक्षा का ख्याल रखने से घर में ही रहना पड़ता था। मैट्रिक तक आते–जाते सुशीला जी का स्वभाव अन्तःमुखी, चिन्तनशील हो गया था। इनका संस्कार बन गया था कि लड़की होने के कारण ज्यादा बात नहीं करना अकेले कहीं नहीं जाना, तर्क वितर्क नहीं करना गरीबी में जीने की आदत होना। कॉलेज में लड़कियों पर विशेष पाबंदी थी। प्रेमलता के प्रेम प्रकरण से डरी मां जब पूछती है तो उत्तर था कि 'मैं ऐसा क्यों करूंगी? मैं तो बूढ़ी ही जनमी हूँ।[14] अभावग्रत जीवन में हर तरीके की समस्या का सामना करना पड़ता था। तांगे में सवर्ण लोग रहते तो अछूतों को नहीं बिठाते थे। इस तरह 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा के द्वारा लेखिका ब्राह्मणवाद, मनुवाद, हिंदुत्व, छुआछूत इत्यादि सामाजिक विडंबनाओ का खुलकर विरोध किया है। जिसका प्रभाव ग्रामीण जीवन में अधिक दिखाई पड़ता है।

संदर्भ–ग्रंथ सूची :–

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि– जूठन (पहला खंड), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. सुशीला टाकभौरे– शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011 पृ. 109
3. मोहनदास नैमिशराय– रंग कितने संग मेरे, वाणी प्रकाशन दिल्ली 2009 पृ. 49
4. पुनीत जैन– हिंदी दलित आत्मकथाएं, सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, 2008 पृ.–178
5. अतिथि संपादक श्यौराज सिंह' 'बेचैन', सत्ता विमर्श और दलित विशेषांक, हंस (संपादक राजेंद्र यादव), पृ.–62
6. तुलसीराम– मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, पांचवां संस्करण
7. मोहनदास नैमिशराय– अपने–अपने पिंजरे (भाग 2), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2000 पृ.–60
8. मोहनदास नैमिशराय– हिंदी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली 2018, पृ.–185
9. जयप्रकाश कर्दम– दलित साहित्य सामाजिक बदलाव की पटकथा, अमन प्रकाशन कानपुर, 2016, पृ.–114
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि– जूठन (भाग–एक), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सोलहवां संस्करण, 2021, पृ.–37
11. तुलसीराम : मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवा संस्करण 2016, पृष्ठ–73
12. ओमप्रकाश वाल्मीकि– जूठन (भाग–एक), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली सोलहवां संस्करण, 2021, पृ.–76
13. तुलसीराम– मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पांचवां संस्करण 2016, पृ.–94
14. सुशीला टकभोरे– शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011

■

चिन्तन–सृजन का स्वामित्व संबंधी विवरण

(फार्म–4, नियम–8)

1. प्रकाशन स्थान	:	दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
3. स्वामी	:	आस्था भारती, नई दिल्ली
4. मुद्रक	:	के.एम.एस.राव कार्यकारी सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)	:	हाँ, भारतीय
पता	:	ई.एम.1704, आम्रपाली विलेज इंदिरापुरम, गाजियाबाद–201014
5. प्रकाशक	:	के.एम.एस.राव कार्यकारी सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)	:	हाँ, भारतीय
पता	:	ई.एम.1704, आम्रपाली विलेज इंदिरापुरम, गाजियाबाद–201014
6. सम्पादक	:	डॉ. शिवनारायण
(क्या भारत के निवासी हैं?)	:	हाँ, भारतीय
पता	:	305, अमन अपार्टमेन्ट, शांति निकेतन कॉलोनी, भूतनाथ रोड, पटना–800026

मैं के.एम.एस.राव घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) के.एम.एस.राव

प्रकाशक

'पॉव तले की दूब'

आदिवासी समाज की संघर्षगाथा

विजय ज्योति *

भले ही देश के विकास का रास्ता जंगलों से होकर गुजरता है मगर औद्योगिकीकरण, शहरीकरण एवं प्राकृतिक संसाधनों की प्राप्ति के लिए सरकार ने जंगलों पर अधिकार किये वहाँ के मूल निवासियों को उनकी भूमि से विस्थापित भी किया और उनके विकास के नाम पर सरकार द्वारा किया गया प्रयास भ्रष्ट राजनीति का शिकार हो गया। जिसका फायदा पूंजीपतियों एवं नेताओं के परिवारों ने उठाया। इस विकास की प्रक्रिया में आदिवासी समुदाय की बलि चढ़ती गई। जनवादी कथाकार संजीव द्वारा रचित उपन्यास 'पॉव तले की दूब' आदिवासी समाज के शोषण,उत्पीड़न एवं संघर्ष की कथा है। 'पॉव तले की दूब' सर्वप्रथम हंस पत्रिका के माह अगस्त 1990 एवं सितम्बर 1990 में प्रकाशित हुआ। 1995 ईस्वी में यह उपन्यास रूप में आया। हिंदी साहित्य में आदिवासियों की समस्याओं को लेकर लिखने वाले रचनाकारों में संजीव का नाम प्रमुख हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध लिखे गए आदिवासी जीवन पर केन्द्रित हिंदी उपन्यासों में 'पॉव तले की दूब' एक विशेष स्थान रखता है। यह उपन्यास झारखंड अलग राज्य बनने से पांच वर्ष पूर्व आया। इस उपन्यास के केंद्र में उपन्यासकार संजीव ने झारखंड आन्दोलन एवं झारखंड के आदिवासियों की मुलभुत समस्याओं को रखा है। आदिवासियों के सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन से जुड़ी अधिकांशतः छोटी–बड़ी समस्याओं को रेखांकित किया गया है।'चिराग तले अँधेरा' वाली स्थिति आदिवासियों के जीवन में रही है जो प्राकृतिक संसाधन पुंजीपतियों के घर में एवं बाहर की दुनिया में रौशनी कर रही है उसी के गोद में जन्म लेने वाले आदिवासी भूखे, नंगे, अशिक्षित, भूमिविहीन और अन्धकार में जीवन जीने को विवश हैं।

संजीव झारखंड विभिन्न भागों के आदिवासी समुदाय के जीवन–संघर्ष, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति का जीवंत का दस्तावेज अपने उपन्यास 'पॉव तले की दूब' में पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं। यह उपन्यास आदिवासी जीवन के उन अनछुए सत्यों को उद्घाटित करता है जिससे मुख्यधारा लोग पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। 'पॉव तले की दूब' अपने शीर्षक से ही अपनी उपन्यास के मनोभाव को प्रकट करने का प्रयास करती है जब पृथ्वी ठंडी हुई

* शोधार्थी, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना। **संपर्क** – रविन्द्र कुमार सिंह, म.सं.–117, पंचवटी कॉलोनी, निकट महावीर मंदिर, पूर्वी गोला रोड, दानापुर, पटना–801503, email- vijayajsingh@gmail.com, मो.– 7764058436

होगी और जीवन का आरम्भ हुआ होगा तो दूब का ही आगमन सर्वप्रथम हुआ होगा। परन्तु, अपनी प्रकृति के अनुसार वो अन्य वनस्पति के समान विकास नहीं करती। दूब की उपयोगिता होने के बाबजूद भी उसे हर कोई अपने पॉव से रौंदते हुए बढ़ जाता है। उसी प्रकार प्रकृति के सबसे नजदीक रहने वाले आदिवासी समुदाय का विकास भी दूब की तरह ही हुआ है प्राकृतिक संपदाओं का दोहन करने वाले उन्हें रौंदते हुए आगे बढ़ते गए और वो शोषित, दमित, उत्पीडित एवं पिछड़ेपन का शिकार हो गई।

'पॉव तले की दूब' उपन्यास फ्लैशबैक शैली में लिखी गयी है। उपन्यास की शुरुआत ट्रेन यात्रा से होती है समीर सुदीप्त से मिलने उसके बताएँ पते पर पंचपहाड़ आया है और पुरे रास्ते वह मुख्य नायक सुदीप्तसे जुड़ी घटनाओं का क्रमबद्ध स्मरण करते आ रहा है जहाँ पाठक की पहचान सुदीप्त से होती है। समीर 'नजर' पत्रिका का संवाददाता है। झारखंड आन्दोलन से जुड़ी खबरों का 'नजर' पत्रिका के लिए साप्ताहिक कवरेज करने वह पारसनाथ पहाड़ शृंखला के बाघमुंडी अंचल में आता है। आंदोलन के कई मुख्य नेता वहाँ आने वाले हैं वह अपने पत्रिका के लिए बिकाऊ मशाला की तलाश में आता है। पर वह वहाँ के आदिवासियों का आन्दोलन गीत सुनकर गीतकार की तलाश में लग जाता है द्यइसी प्रसंग में उसकी भेंट गीतों के रचनाकार गीतकार सुदीप्त (सुदामा प्रसाद) से होती है। उपन्यासकार संजीव ने संवाददाता समीर और सुदीप्त को आन्दोलन से जोड़कर दोनों के माध्यम से आत्मकथा शैली में कथानक बुना है। सुदीप्त सुदामा प्रसाद प्रसिद्ध लेखक, आदिवासी गीतकार है एवं कारखानें का इंजिनियर (बिजली बाबू)। सुदीप्त एक दिकू (गैर आदिवासी) है जो हमेशा आदिवासियों के हित में सोचता है वह आदिवासी उत्थान के लिए हमेशा तत्पर रहता है। मन, वचन एवं कर्म से वो आदिवासियों का सच्चा हितैषी है। पहली नजर में समीर सुदीप्त की रचनाधर्मिता पर मुग्ध हो गया, उसे चाहिए था पत्र के लिए आन्दोलन के नाम पर बिकाऊ मशाला जबकि सुदीप्त समीर में आन्दोलन को सच्ची दिशा देने वाले सच्चे पत्रकार को तलाश रहा था। दोनों अपने–अपने लक्ष्य की खोज में एक हुए थे। बघमुंडी के आदिवासियों के जीवन के वास्तविक दर्शन कराने के लिए सुदीप्त समीर को आदिवासी घरों में घुमाते चल रहा था – "कई आदिवासी घरों में घुमाते हुए तुम मुझे ले चल रहे थे। वे इतने गरीब थे कि कपड़ों के नाम पर चिथड़ों का कच्छा पहने हुए थे, पुट्ठे तक खुले हुए। औरतें जैसे–तैसे बदन ढकें हुए थीं। बच्चे कंगालों जैसे।"[1]

संजीव ने आदिवासियों भूख, गरीबी, अशिक्षा, रुढ़िवादिता एवं पलायन–विस्थापन के साथ नदी–नाले, जमीन, जंगल में खनन से होने वाले प्रदूषण आदि की समस्या को आदिवासी जीवन के ठोस यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत किया है। सुदीप्त के माध्यम से कहा जा रहा है– "आदिवासी लोगों की दो कमजोर नसें हैं – अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता ! अरण्यमुखी संस्कृति उन्हें सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती और उत्सवधर्मिता इन्हें कंगाल बनाए रहती है। हंडिया या दारू ये पियेंगे ही और हर उत्सव को मस्त होकर मनाएँगे पढाई–लिखाई से दूर रहेंगे।"[2] आदिवासियों की उत्सवधर्मिता एवं दारू की लत उन्हें कर्जे में डूबाए रखती है कर्ज के बदले में चालक लोग उनसें

उनकी जमीन हथिया लेते हैं। हंसदा आदिवासी नेता हैं जो आदिवासियों की स्थिति में सुधार के लिए कार्य कर रहें हैं जिन्होंने आदिवासियों की शिक्षा एवं शराबबंदी अनिवार्य कर दी और बाहरी लोगों द्वारा कब्जा किये गए जमीन को छोड़ने को कहा पर पूरी व्यवस्था और सत्ता का पूरा तंत्र उन पूंजीपतियों के पक्ष में कार्य कर रहा है। आदिवासियों के दर्द उपन्यास में कथाकार संजीव ने यथार्थ की कसौटी पर कस कर वास्तविक रूप दिया है। एक सांस्कृतिक कार्यक्रम में सुदीप्त द्वारा लिखे गीत जिसे आदिवासियों द्वारा गया जा रहा है आदिवासी दर्द को रूपायित करता है –

धीरी ओचोक ओचोक कतेखेत इग बेनाव लेत
वीर पाकड़ माक कतेखेत इग बेनाव लेत[3]

सुदीप्त अपने मित्र समीर को इसका अर्थ बताता है – चाँद देवता से आदिवासी स्त्रियाँ अपने दुखों को कहती है।

हमने पत्थर हटा–हटा कर खेत बनाये।
खेत बना–बनाकर बीज रोपे धान के
धान काट–काटकर खलिहान ले आये
और खलिहान उठा ले गया महाजन
सीने पर पहाड़ है कब से अड़ा हुआ।
ऐसे कब तक चलेगा, हे चाँदो देवता ....?[4]

आदिवासी क्षेत्रों में कारखाने लगाए गए, जिससे वहाँ के मूल निवासियों को वहाँ से विस्थापित होना पड़ा। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन निरंतर किया जा रहा है एवं कारखानों में काम करने वाले दिकुओं के लिए बनाए गए आवास, स्कूल, अस्पताल की सुविधा को अंचल के विकास से जोड़ कर यह दिखाया गया की आदिवासी क्षेत्र का विकास हो रहा है। जबकि आदिवासियों की स्थिति निरंतर खराब होती चली गई। जो पहले उस जंगल, जल, जमीन के मालिक थे आज वे दिहाड़ी मजदूर बनकर रह गए। उन्हें जंगलों में जाना भी माना हो गया द्यसरकार द्वारा कारखानों में आदिवासी आरक्षित पदों पर पुजीपतियों, अधिकारियों के परिवार वाले काबिज हो गए। आदिवासियों की हालत में कोई बदलाव नहीं हुआ बल्कि उन्हें कई स्तरों पर उत्पीड़ित किया जा रहा था। उनकों जंगल से बेदखल कर दिया गया। किस्कू जब उदास स्वर अपने बिजली बाबू (सुदीप्त) से कहता है – 'साहब, सरकार तो बहुत मेहरबान है ना हम पर ?....ये ई मेहरबानी है न कि जिस छोटा बुरु के जंगल शालवनी से हमरा बाप–दादा काठ काट के लाता रहा, अब हमरा लड़का, जनाना दतुअन भी नहीं तोड़ने सकता ?'[5] किस्कू की यह बातें उसके जंगल से बेदखल होने के दर्द को बयां करता है जिस जंगल पर उनका जीवन सदियों से जुड़ा था उससे सरकार ने उसे एक झटके में दूर कर दिया जंगल बचाने के नाम पर वही जंगल के ठेकेदार अवैध रूप से जंगल काटे जा रहें हैं। दूसरी तरफ ये ठेकेदार आदिवासी स्त्रियों पर भी बुरी दृष्टि रखते हैं और मौका मिलते ही उनको भी अपने शोषण का शिकार बनाते हैं मेझिया जब दूसरे गाँव की बदहाली बयान करते हुए कहता है – 'जानते हैं सिरिफ जंगल का सिपाही ही नहीं, अब तो भट्टी वाला सुक्खू सिंह का आदमी भी आता है गाँव की लड़की लोग

को फुसलाता है।'[6] तोपता चलता है की आदिवासियों के शोषक वर्ग निरंतर बढ़ रहें हैं और उनका शोषण कई स्तरों पर किया जा रहा है। कारखानों के लगने से निरंतर उससे निकलने वाली जहरीली गैसों और अपशिष्ट पदार्थ वहाँ की जमीन को बंजर बनाए जा रही है और जो नदी कभी अमृतदायनी थी वहीँ प्रदूषित होकर जहरीली हो गई है उसका पानी पीकर लोगों को लकवा मार रहा है, बच्चे कुपोषित, लोगों को टीवी हो रहा हैं। अंधविश्वास के कारण कहीं लोग इसे देवी प्रकोप मान रहें हैं, कहीं डायन का कालाजादू। डायन बता कर किसी स्त्री को मार दिया जा रहा है तो किसी का सर मुंडा कर नंगा कर उत्पीड़ित किया जाता है।

जब सुदीप्त बाबू द्वारा एवं झारखंड आन्दोलन के नेताओं द्वारा ये बात समझाई जाती है कि ये सारी बीमारियों की जड़ प्लांट से निकलनेवाली जहरीली गैस एवं सीवेज से नदियों में बहाने वाला रसायनिक अपशिष्ट है तो आदिवासी समुदाय अपने हितों के लिए आवाज उठाती हैं, पर पूरी व्यवस्था एकजुट होकर उनके आन्दोलन को दबाने का प्रयास करती है। आन्दोलन के प्रमुख नेता राजनैतिक भटकाव के शिकार हो जाते हैं, कुछ निजी हित देखने लगते हैं इस तरह आन्दोलन शिथिल पर जाता है। सुदीप्त जो आदिवासियों का सच्चा हितैषी है वह भी पूंजीपतियों, ठेकेदारों एवं भ्रष्ट पदाधिकारियों के राजनीति का शिकार हो जाता है। आदिवासी युवाओं की टोली जो झारखंड आन्दोलन से जुड़ी है सुदीप्त के लिखें नाटकों, गीतों एवं नारों का अभ्यास सुदीप्त के क्वाटर पर करती थी। उन युवाओं के मन में आदिवासी नेता डैनियल कुंजर द्वारा कारखानों में आदिवासियों के हितों के लिए आदिवासी भर्ती और दिकुओं का भागने की विचारधारा 'आदिवासी और गैर आदिवासी विचारधारा' बलवती हो गई वो सभी दिकुओं के विरोधी हो गई भले वो आदिवासी हितैषी सुदीप्त ही क्यों न हो जिसने अपना सबकुछ आदिवासी उत्थान में लगा दिया। फिलिप जो एक आदिवासी आन्दोलनकर्त्ता है उसका सभा को सम्बोधित करते हुए कहना – 'यह धरती, हमारी धरती सोना उगलती है और उस सोने की धरती की हम कंगाल संतान हैं। प्रदेश की दो तिहाई आय हमसे होती है और हमारी हालत, न तन पर साबुत कपड़ा है, न पेट में भरपेट भात है, दवा–दारू, पढाई–लिखाई की बात छोड़ ही दीजिये। बहुत पैसा दिया सरकार ने, सरकार घोषणाएँ करती नहीं थकती, लेकिन हम कंगाल के कंगाल ! मालोमाल कोई और हो रहा है। हमने कहा, हमें अपने करम पर छोड़ दो, लेकिन वो नहीं छोड़ते। सोने के खजाने पर कुंडली मारकर बैठा सांप क्यों छोड़ दे ?'[7]

मजबूर होकर हमें डायरेक्ट एक्शन यानी सीधी करवाई पर उतरने के लिए सोचना पड़ा। सीधी करवाई का मतलब सीधा है हम अपने झारखंड से आपको एक भी चीज बाहर नहीं सम जाने देंगे, न कोयला, न लोहा, न जिंक, न अलमुनियम, न पत्थर, न लकड़ी कुछ भी नहीं ....'[8]

फिलिप का यह संबोधन बता रहा है कि झारखंड राज्य की मांग का आन्दोलन अब एक अलग रूप ले चूका था। उस सभा को सम्बोधित करने कई नेता आ चुके थे। फिलिप सभा में बोली गई बातों पर अडिग हो गया वो किसी ट्रक को जाने नहीं दे रहा छात्रों के दल का समर्थन उसे था जिसका परिणाम हुआ पुलिस गिरफ्तारियां करने आ गई और फिलिप शालवनी में आग लगता खुद भी

धूधू हो गया। फिलिप की मृत्यु शोषण, दमन, पक्षपात एवं सम्मानपूर्वक जीवन के अधिकार से वंचित होने का परिणाम थी पर फिलिप के मृत्यु का कारण सुदीप्त को मानते हुए। उस पर गलत आरोप लगाकर नौकरी से निकाल दिया जाता है और कुछ भ्रष्ट आदिवासियों की मिलीभगत से उसे आदिवासियों द्वारा भी अपमानित कर निकाला जाता है।

यहाँ से कथानायक खुद को जीवन में असफल पाकर वह एकान्तवासी हो जाता है। कुछ पत्र, डायरी के पन्नों में अपनी अनुभूति को लिख कर, एक पत्र अपने मित्र समीर को मिलने के लिए लिख कर आत्महत्या कर लेता है और अपनी मृत शरीर एवं डायरी के लिए वसीयत लिख जाता है कि उसके मृत शरीर कान दाह–संस्कार किया जाए न दफनाया जाए उसके शरीर को पहाड़ की चोटी पर रख दिया जाए ताकि चील–कौए या वन्यपशु खा जाए एवं डायरी और पत्र उसके मित्र समीर को सौप दिए जाए।

उपन्यासकार संजीव ने इस उपन्यास में आदिवासी समुदाय और आदिवासी आन्दोलन से जुड़ी छोटी–बड़ी सभी समस्याओं को बारीकी के पात्रों के माध्यम से उठाया है परन्तु कोई भी सुझाव या समाधान नहीं देते। सुदीप्त के जाने के बाद, मेझियासे माझी हड़ाम की चिट्ठी आशा की एक किरण दिखाती है कि यह मेहनती हाथ अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं निकाल लेंगे और बिजली साहब के गीत उनके लिए प्रेरणा बनेंगे। बिजली साहेब गैर आदिवासी जो आदिवासी राजनीतिकरण शिकार हुआ उसके द्वारा किया गया कार्य एक गाँव में सुख समृद्धि ले आया अपनी असफलता से दुखी होकर आत्महत्या करने वाला नायक मेझिया गाँव में हमेशा जिन्दा रहेगा और लोगों में आशा का संचार करेगा, उसके गीत हमेशा जिन्दा रहेंगे। अपने छोटे से उपन्यास में संजीव ने आदिवासी समस्याओं को विस्तृत फलक प्रदान किया है। उन्होंने आदिवासियों के जीवन के संघर्ष का यथार्थ चित्रण अपने उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में किया है। यह उपन्यास आदिवासी समाज की संघर्ष गाथा है।

संदर्भ–सूची

1. संजीव, पाँव तले की दूब, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2016, पृ.14
2. वही, पृ.14
3. वही, पृ.53
4. वही, पृ.53
5. वही, पृ.32
6. वही, पृ.64
7. वही, पृ.93
8. वही, पृ.93
9. सिंह, राहुल, गैर पारम्परिक कथात्मक यथार्थ के कथाकार, हिंदी समय, महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का अभिक्रम - hindisamay.com/content/3562

■

प्रवासी चिंतन

प्रवासी हिन्दी साहित्य की वैचारिकी

अभय कुमार पुरी *

प्रवासी हिन्दी साहित्य से तात्पर्य उस साहित्य से है जो विदेशों में रहने वाले प्रवासी भारतीयों द्वारा लिखा जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हम प्रवासी साहित्य के संदर्भ में 'प्रवासी' शब्द का सही प्रयोग कर रहे हैं या इसकी कोई अलग व्याख्या होनी चाहिए ? प्रवासी हैं तो कौन हैं? उनके प्रवास धारण करने के पीछे की मानसिकता क्या है? प्रवासी हिन्दी साहित्य की क्या–क्या विशेषताएं हैं? यह भारतीय साहित्य से क्यों विशिष्ट है? प्रवासी साहित्य की अवधारणा क्या है? वर्तमान समय में प्रवासी हिन्दी साहित्य की स्थिति क्या है? इस आलेख में इन प्रश्नों के आलोक में ही प्रवासी साहित्य के विविध पहलुओं पर विचार–विमर्श किया गया है।

सर्वविदित है कि भारत उन प्रमुख देशों मे से है जहां से लोग बहुतायत में विदेशों में प्रवास करते हैं। आज के इस भूमंडलीकरण के दौर में प्रवास की प्रक्रिया की गति तेज हो गई है। आज शायद ही ऐसा कोई देश बचा हो जहां प्रवासी भारतीय अपना जीवन यापन न कर रहे हों। आज अनेक भारतीय खासकर शिक्षित एवं सम्पन्न किशोर–किशोरी तथा अन्य वयस्क के लोग भी बेहतर शिक्षा एवं रोजगार के नवीन अवसरों की तलाश में विदेश जाने और वहीं बस जाने की आकांक्षा रखते हैं। भारत में जन्म लेकर, यहाँ पल–बढ़ कर भारतीय परिवेश, संस्कृति एवं जीवनशैली को आत्मसात करने वाले इन भारतीयों का मन विदेशों में जाकर भी भारतीय सभ्यता, संस्कृति, परिवेश एवं रीति–रिवाजों के इर्द–गिर्द ही घूमता है। विदेशों में बस जाने पर भी वे उन देशों की सभ्यता एवं संस्कृति से वह लगाव महसूस नहीं करते जो लगाव भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के साथ महसूस करते हैं। इनसे सामंजस्य बैठाने में उन्हें अनेक कठिनाइयों एवं सामाजिक–आर्थिक समस्याओं से रूबरू होना पड़ता है। इन प्रवासी भारतीयों में से कुछ रचनात्मक प्रतिभा सम्पन्न लोग साहित्य–सृजन में रुचि रखते हैं तथा अपनी पीड़ा, अनुभूति एवं अपने परिवेश के सत्य को अपनी साहित्यिक कृतियों में शब्दबद्ध करते हैं। ऐसे प्रवासी भारतीयों द्वारा रचित साहित्य को ही 'प्रवासी साहित्य' के नाम से अभिहित किया गया है।

* संपर्क – पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय में शोधप्रज्ञ। संपर्क– 2/1, शशिभूषण घोष, द्वितीय लेन, पो. –महेश, थाना–श्रीरामपुर, हुगली–712202, मो.–8240899752, **ईमेल**–abhaypuri16@gmail.com

प्रवासी हिन्दी साहित्य को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत मॉरीशस, सूरीनाम, फीजी, गुयाना, त्रिनिडाड, टोबैगो तथा दक्षिण अफ्रिका में ब्रिटिशों द्वारा ले जाए गए गिरमिटिया मजदूरों की दूसरी या तीसरी पीढ़ी द्वारा रचित हिन्दी साहित्य को रखा जा सकता है। द्वितीय वर्ग के अंतर्गत अमेरिका, इंग्लैंड, यूरोप तथा अन्य देशों में अपनी इच्छा से गए लोगों द्वारा रचित हिन्दी साहित्य को रख सकते हैं। इन दोनों ही वर्गों के प्रवासी लेखकों के इतिहास, भाषा, परिवेश, शिक्षा, संघर्ष, अनुभव आदि सभी क्षेत्रों में बड़ा भारी अंतर है।

सभी जानते हैं कि 18–19 वीं सदी में भारत पर ब्रिटिशों का कब्जा था। उनकी हुकूमत थी । अतः ब्रिटिशों ने साम्राज्य विस्तारवादी नीति के तहत भारत के विभिन्न राज्यों से भोले–भाले एवं अशिक्षित मजदूरों को अनुबंध के आधार पर मॉरीशस, फीजी, सूरीनाम, गुयाना आदि देशों में भेजना शुरू किया। इनमें से अधि ाकांश मजदूर बिहार और उत्तर प्रदेश के थे। ये भारतीय गिरमिटिया मजदूर अपनी बेरोजगारी, निर्धनता एवं जमीन में सोना मिलने के प्रलोभन आदि कारणों से ब्रिटिश उपनिवेशी देशों में चले गए। इन पर गुलामों की तरह घोर अमानवीय अत्याचार किए गए। इनमें से अधिकांश मजदूर कभी अपने वतन वापस नहीं लौट पाए। इन्हें वहीं बस जाना पड़ा। ये लोग अपने साथ रामचरित मानस, रामायण, हनुमान चालीसा आदि धार्मिक ग्रंथ भी ले गए थे जो विदेशी भूमि पर उनके अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा के आधार बने। ये लोग अपने पूर्वजों द्वारा दी गई शिक्षा, भाषा, संस्कार, संस्कृति को विस्मृत नहीं कर पाएं। भले ही इन मजदूरों की दूसरी–तीसरी पीढ़ी के अधिकांश लोग भारत नहीं आए हैं परंतु अपने पूर्वजों के देश के प्रति इनमें भावात्मक लगाव सदैव बना रहा। 'भाषा संस्कृति का मुख्य घटक है। खान–पान, वेश–भूषा, रीति–रिवाज में सहज परिवर्तन दूसरी संस्कृति के प्रभाव से सहज ही हो जाता है परंतु भाषा जो मानवीय अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध यम है, व्यक्ति उसे जल्दी नहीं छोड़ पाता।'[1] अतः गिरमिटिया मजदूर भी अपनी मातृभाषा नहीं छोड़ पाए। अपनी भाषा एवं संस्कृति को बचाने के लिए इन्होंने जीवन पर्यंत संघर्ष किया। ये पूर्वजों द्वारा दिये गये संस्कार ही हैं जो इन्हें हिन्दी भाषा में लिखने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। अपने पूर्वजों की भाषा में साहित्य सृजन करना इनके लिए भावना का विषय है। इस श्रेणी के प्रमुख साहित्यकार हैं–अभिमन्यु अनत, डॉ मुनीश्वर लाल चिंतामणि, राज हीरामन, रामदेव धुरंधर, कमला प्रसाद मिश्र, सोमदत्त बखोरी, ब्रजेन्द्र भगत 'मधुकर', डॉ बीरसेन जागा सिंह आदि।

दूसरी श्रेणी उन प्रवासी साहित्यकारों की है जिन्होंने ६० के दशक के पश्चात शिक्षा, रोजगार के नवीन अवसरों, आर्थिक साधनों तथा तमाम भौतिक सुख–सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए अमेरिका, इंग्लैंड, कनाडा आदि देशों में चले गए और वही प्रवास किया। ये गिरमिटियों की तरह अशिक्षित नहीं थे। अतः ये प्रवासी उस नए परिवेश में खुद को ढाल पाते हैं। इसके लिए उन्हें ज्यादा संघर्ष नहीं करना पड़ा। वर्तमान समय में इन प्रवासी भारतीयों की पहली और दूसरी

पीढ़ी उसी देश की नागरिक हो गए हैं लेकिन इनके हृदय में भी अपने देश की स्मृति है, और वे अपनी संस्कृति, धर्म, भाषा तथा अस्मिता के प्रति समर्पित हैं क्योंकि यही एक आधार है जिसके दम पर वे विदेशों में अपनी भारतीय पहचान बनाकर रख सकते हैं। ये लोग अपने प्रवासी जीवन के तनावों, संघर्षों के साथ अपने देश की संस्कृति तथा जीवन की अनुभूतियों को अपने देश एवं भाषा प्रेम के कारण अपनी मातृभाषा हिन्दी में अभिव्यक्त करते रहे हैं। इस श्रेणी के प्रमुख साहित्यकार हैं–डॉ तेजेंद्र शर्मा, नीनापॉल, दिव्या माथुर, स्नेह ठाकुर, पुष्पिता अवस्थी, सुषम बेदी, सुधा ओम ढींगरा आदि।

इन दोनों ही श्रेणी के रचनाकारों को प्रवासी साहित्यकार तथा इनके द्वारा रचित साहित्य को 'प्रवासी साहित्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। इन दोनों ही श्रेणी के लेखकों के हिन्दी साहित्य की प्रेरणा भूमि, परिवेश, परिस्थिति, कथानक, पात्र, संवेदना, सरोकार एवं जीवन दृष्टि भिन्न–भिन्न हैं क्योंकि अमेरिका तथा यूरोप के पूंजीवादी देशों तथा मॉरीशस, फीजी, गुयाना, सूरीनाम आदि देशों की रूप–रचना, जीवन शैली, इतिहास, संस्कृति, धार्मिक जीवन एवं विकास का स्तर सभी में समानता ना के बराबर है लेकिन इनके साहित्य एवं सर्जनात्मकता में एक समानता है जो इनकी भिन्नता को एकता में बदल देती है। वह समानता है इन लेखकों का भारत भूमि से प्रेम, भारत की धर्म–संस्कृति एवं भाषा से प्रेम। इन साहित्यकारों ने जिस देश में वे रह रहे हैं उस देश की सभ्यता, संस्कृति, परिवेश, उस परिवेश में खुद को मजबूरन ढालने की पीड़ा, अजनवीपन, नस्लीय भेद–भाव आदि विषयों को अपनी रचना का आधार तो बनाया ही साथ ही इनके साहित्य में किसी ना किसी रूप में भारत भी और उसके प्रति उनका स्वाभाविक प्रेम विद्यमान रहता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सिर्फ विदेशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों द्वारा रचित साहित्य को ही प्रवासी साहित्य के नाम से अभिहित किया जाए या भारत में भारत के किसी एक प्रांत या राज्य का व्यक्ति अगर भारत के किसी दूसरे प्रांत या राज्य में रह कर रचना कर्म करता है उसे भी प्रवासी साहित्य माना जाए? इस संबंध में ब्रिटेन में बसे भारतीय मूल के हिन्दी लेखक तेजेन्द्र शर्मा का मत है कि आज भारत में बहुत से ऐसे लेखक हैं जो हिन्दी में साहित्य–सृजन कर रहे हैं और प्रायः यह देखा जाता है कि वे उस शहर में रहकर नहीं लिख रहे हैं जहां उनका जन्म हुआ है। वे लोग एक राज्य से दूसरे राज्य में प्रवास करते हैं और वहाँ रह कर हिन्दी साहित्य की रचना कर रहे हैं। अतः उनके सोचने–समझने की जो प्रक्रिया है वह भी किसी प्रवासी से कम नहीं है। अंतर केवल इतना है कि ये लोग अंतरराज्यीय प्रवासी हैं जो अपने गाँव एवं शहर से कटकर किसी दूसरे राज्य के बड़े शहर में रहते हैं । ये लोग भी नए शहर में जाकर अपनी जड़े जमाते हैं, खुद को नए परिवेश में ढालते हैं, उनसे सामंजस्य बैठाते हैं। ठीक इसी तरह अंतरराष्ट्रीय प्रवासी भी हैं जो विदेश के नए माहौल, नई भाषा, संस्कार एवं संस्कृति, जीवन शैली के साथ ताल–मेल बैठाते हैं।

हम यह मान सकते हैं कि अगर कोई व्यक्ति राजस्थान राज्य का है और वह बिहार में आकर साहित्य–सृजन करता है तो उसके लिए वह प्रवासी साहित्य है क्योंकि वह प्रवास में लिख रहा है। ठीक इसी प्रकार यदि बिहार के मुजफ्फरपुर जिला के किसी गाँव का व्यक्ति जब किसी शहर में आकर लिखता है तो गाँव, समाज के लोगों के लिए उसके द्वारा रचित साहित्य प्रवासी साहित्य होगा। इसी के आधार पर नीदरलैंड की प्रमुख प्रवासी लेखिका पुष्पिता अवस्थी का मानना है कि प्रवासी साहित्य बहुत ही सीमित अर्थों में है। उसके पास अर्थ की व्यापकता नहीं है जिस अर्थ कि व्यापकता के लिए 'प्रवासी' शब्द का इस्तेमाल किया जा रहा है। यह ध्यातव्य है कि 'प्रवासी साहित्य' उन रचनाओं, तथ्यों के लिए प्रयोग में लाया जाता है जो भारत से इतर विभिन्न देशों में लिखा जा रहा है। अतः ऐसे में हमें जरुरत है 'प्रवासी साहित्य' के किए एक नए शब्द की, एक नए अर्थ व्यापकता की, जिससे लोगों में इस शब्द को लेकर स्पष्टता आए। आगे वह कहती हैं कि "प्रवासी साहित्य को विस्थापितों को साहित्य कहा जाना चाहिए। जब इसे इस रूप में संबोधित किया जाएगा तब इसकी संवेदना सही मायनों में उद्‌घाटित हो पाएगी क्योंकि जब हम प्रवासी साहित्य पर बात करते हैं तब हम वस्तुतः भारत से विस्थापित लोगों द्वारा रचित साहित्य की ही बात करते हैं। वे चाहे किसी भी तरह या किसी भी कारणवश विस्थापित हुए हों। ''प्रवासी'' उन्हें ही कहा जाना चाहिए जिन्होंने किसी न किसी रूप में प्रवास की पीड़ा को झेला है।

आज प्रवासी हिन्दी साहित्य समृद्धि की ओर अग्रसर है। इस प्रवासी हिन्दी साहित्य ने हिन्दी की एक नई शाखा खोली है। एक नया साहित्य संसार, एक नई संवेदना, एक नई भाव–भूमि प्रस्तुत की है। हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी पाठक दोनों ही इससे समृद्ध हुए हैं। 'हिन्दी के प्रवासी साहित्य का रूप–रंग, उसकी चेतना और संवेदना भारत के हिन्दी पाठकों के लिए एक नई वस्तु है, एक नए भाव–बोध का साहित्य है, जो हिन्दी साहित्य को अपनी मौलिकता एवं नए साहित्य संसार से समृद्ध करता है। इस प्रवासी साहित्य की बुनियाद भारत प्रेम तथा स्वदेश–परदेश के द्वन्द्व पर टिकी है तथा बार–बार हिन्दू जीवन मूल्यों तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों तथा उनके प्रति श्रेष्ठता के भाव की अभियुक्ति होती है।'[2]

प्रवासी साहित्यकार एक देश में बस कर वहाँ के परिवेश, सभ्यता एवं संस्कृति के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश करता है। यह बात अलग है कि वह पूर्ण रूप से अपनी भारत भूमि एवं भारतीय संस्कृति को विस्मृत नहीं कर पातें है। यदि हम एक प्रवासी साहित्यकार की रचनात्मक यात्रा को देखें तो उसे तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है–

एक प्रवासी लेखक की लेखन यात्रा के शुरुआती दौर में 'नॉस्टेलजिया' प्रमुख रूप से उभर कर आती है क्योंकि जब वह एक देश से दूसरे देश में प्रवास करता है तो उस देश में उसे पराएपन एवं अजनबीपन की अनुभूति होती है। इस अजनबी देश में उसके सारे अनुभव उस देश, उस शहर या उस गाँव से होते है जिन्हें वह छोड़कर आया है। वह उन्हें अपनी स्मृतियों में टटोलता है, उन्हें स्पर्श

करता है। अतः इस शुरुआती दौर के लेखन में एक प्रवासी लेखक के लिए 'नॉस्टेलजिया' बहुत ही सुंदर अहसास होता है। लेखक अपने अतीत के परिवेश में विचर रहा होता है जो उनकी लेखनी में स्पष्ट रूप से उभर कर आता है। एक प्रवासी साहित्यकार अपने अतीत को किस प्रकार याद करता है, वह द्रष्टव्य है–

'वही दिनवा जब याद आवेला अखियाँ में भरेला पानी रे।
हिंदुस्तान से भागकर आइली यही है अपनी कहानी रे,
भाई छूटा, बाप छूटा और छूटी महतारी रे।
अरकटिया खूब भरमवलीस कहै पैसा कमैबू भर–भर थाली रे,
वही चक्कड़ मां पर गइली, बचबा याद आय गइल नानी रे।'[3]

अपने लेखन के दूसरे चरण में लेखक उस नए देश को एक अजनबी बाहरी व्यक्ति के तौर पर देखता है। वह उस देश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को जानने और उसे समझने की कोशिश करता है। इस चरण का साहित्य मुख्य रूप से पाठकों को जिस देश में वह वास कर रहे हैं उस देश के बारे में सूचना देने के उद्देश्य से लिखा जाता है कि वहाँ का जीवन कैसा है? वहाँ उन्हें किन–किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है? उस देश का परिवेश एवं वहाँ की संस्कृति कैसी है? वहाँ के रीति–रिवाज क्या हैं? आदि।

तीसरे चरण में आकर लेखक पूरी तरह से परिपक्व हो जाता है। इस चरण में वह अपने पुरातन एवं नवीन देश के बारे में पूरे अधिकार बोध के साथ लिखता है। उसका लेखन ठीक वैसा ही होता है जैसे कोई फ्रेंच या रूसी लेखक अपने देश और समाज के बारे में लिख रहा हो। वह उस देश के हिन्दी लेखक के रूप में प्रतिष्ठापित हो जाता है जहां वह प्रवासी है। वह हिन्दी साहित्य में एक नया विषय–वस्तु जोड़ता है। उदाहरण के लिए तेजेन्द्र शर्मा की एक बहुत ही चर्चित कहानी है 'कब्र का मुनाफा'। यह कहानी इंग्लैंड के एक ऐसे परिवेश को, वहाँ की ऐसी प्रणाली को व्याख्यायित करता है जिसमें आदमी की मृत्यु के पश्चात उसकी समस्त सुख–सुविधाओं का ध्यान रखना, उनका निरीक्षण करना कि मरने के बाद कैसे और किस जगह दफन होना है आदि चीजें शामिल हैं। यह कहानी पूरी तरह से विदेशी परिवेश पर आधारित है। इस कहानी में शर्मा जी ने इंग्लैंड की एक ऐसी संस्कृति को दर्शाया है जो भारतीय संस्कृति से पूर्णतया भिन्न है। इस कहानी में माता–पिता अपने बेटे के लिए भी कब्र की अग्रिम बुकिंग कराना चाहते हैं। भारत में तो माता–पिता ऐसा सोच भी नहीं सकते। कहानी का एक पात्र नजम कहता है–'खलील भाई! मरने की बात से याद आया, आपने कार्पेंडर्स पार्क के कब्रिस्तान में अपनी और भाभी जान की कब्र बुक करवा ली है या नहीं? देखिए उस कब्रिस्तान की लोकेशन, उसका लुक और माहौल एकदम यूनिक है। अब जिंदगी भर तो काम, काम और काम से फुर्सत नहीं मिली कम से कम मरकर तो चैन की जिंदगी जिएंगे।'[4] खलील कहता है–'सुनो! उसका कोई स्कीम नहीं है जैसे बाई वन–गेट वन, बाई टू–गेट वन फ्री? अगर ऐसा हो तो हम अपने बेटों को भी स्कीम में शामिल कर सकते हैं। अल्लाह ने हम दोनों को एक ही बेटा दिया

है।'[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि एक प्रवासी लेखक रचनात्मक यात्रा के तीसरे चरण में आकर नयी संस्कृति में समायोजित और परिपक्व हो जाता है और यह परिपक्वता उसके लेखन में झलकती है।

आज प्रवासी हिन्दी साहित्य के बारे में हिन्दी के कुछ आलोचकों एवं पाठकों में यह धारणा बनी हुई है कि प्रवासी साहित्य उच्च कोटि का नहीं है, उनकी हिन्दी शुद्ध नहीं है उसमें वहाँ की स्थानीय बोलियों का मिश्रण है। विषय–वस्तु, शिल्प एवं संवेदना के स्तर पर उसकी तुलना मुख्य धारा के साहित्य से की जाती है। क्या हमारे लिए यह गर्व का विषय नहीं है कि वे हिन्दी भाषा में साहित्य–सृजन कर रहे हैं? अब समय के साथ वे भी अपने आप में सुधार कर रहे हैं तथा अपने लेखन को संशोधित एवं परिवर्द्धित कर रहे हैं। आज बहुत से प्रवासी साहित्य हिन्दी लेखन के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर शुद्ध हिन्दी में लेखन कर रहे हैं, जैसे– तेजेन्द्र शर्मा, रामदेव धुरंधर, राज हीरामन, पुष्पिता अवस्थी आदि। ये प्रवासी साहित्यकार सिर्फ अतीतमोह से ही ग्रसित नहीं हैं वह वर्तमान समय की प्रमुख समस्याओं को भी अपनी रचनाओं में स्थान दे रहे हैं।

प्रवासी साहित्य वादों, गुटों, विचारधाराओं से परे का साहित्य है। वह किसी विशेष दर्शन, सिद्धांत या चिंतन के अधीन रह कर नहीं लिखा जाता है। इसमें लेखक अपने सामाजिक परिवेश और परिस्थितियों से घिरे मनुष्य के जीवन के विविध पहलुओं को ही चित्रित करता है क्योंकि कोई भी रचनाकार अपने परिवेश से कटा नहीं रह सकता वह उससे प्रभावित होता ही है। आज इस प्रवासी साहित्य के समीक्षक नहीं मिल रहे हैं। इस संदर्भ में डॉ. तेजेंद्र शर्मा का वक्तव्य उल्लेखनीय है, "आज का प्रवासी साहित्य तीसरी स्टेज का साहित्य है तथा हिन्दी साहित्य में एक नया थीम जोड़ रहा है। इसीलिए हमारे आलोचकों को मुश्किल होती है। जो आलोचक हमेशा किसान और मजदूरों की कहानियों की आलोचना करते रहे हैं, जो आलोचक केवल एक विचारधारा के तहत साहित्य को पढ़कर उसकी आलोचना, समीक्षा करते रहे हैं उनके लिए हमारा साहित्य थोड़ी मुश्किलें पैदा करता है क्योंकि हमने एक दुनिया आलोचकों और पाठकों के सामने परोसा है। उसे समझने के लिए आज यह भी जरूरी होगा कि जैसे हमारे पुराने आलोचक भारत की एक परंपरा के लेखक को पढ़ते थे, उसी तरह वे प्रवासी लेखकों की परंपरा को भी पढ़ना शुरू करें। उन्हें पता चले कि जो प्रवासी लेखक आज लिख रहे हैं उन्होंने कितना नया हिन्दी साहित्य को दिया है।''

विभिन्न देशों के प्रवासी लेखकों के अपने अलग–अलग अनुभव हैं। प्रत्येक देश का साहित्य उस देश की विशेषताएं लिए होता है। हिन्दी प्रवासी साहित्य हिन्दी के विराट संसार का अंग है। उसने अपनी विशिष्ट संवेदना, दृष्टिकोण, परिस्थिति एवं सृजन प्रक्रिया के कारण प्रवासी हिन्दी साहित्य को एक मौलिक रूप प्रदान करके हिन्दी–संसार में अपना योगदान किया है। भारत में रचे जाने वाले हिन्दी साहित्य से यह प्रवासी साहित्य संवेदना, शिल्प, परिवेश और सरोकार में एकदम भिन्न है, क्योंकि उन रचनाकारों की चिंताएं, समस्याएं एवं

संघर्ष भारत के लेखक से भिन्न है। प्रवासी हिन्दी साहित्य हमारे लिए महत्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि वह अपनी मौलिकता एवं विशिष्टता रखता है तथा हिन्दी साहित्य में कुछ नया जोड़ता है, इसके साथ ही वह हिन्दी साहित्य को वैश्विक बनाने में भी महत्वपूर्ण योगदान करता है।

प्रवासी साहित्यकार भारत से हजारों मील दूर रह कर भी हिन्दी भाषा में साहित्य सृजन करके भारतीय सभ्यता, संस्कृति और संस्कारों को किसी न किसी रूप में विदेशों में आरोपित कर रहे हैं। आज भारतीय संस्कृति को विदेशों में सम्मान और श्रद्धा के साथ देखा जाता है। प्रवासी भारतीय विदेशों में रहकर भी अपने भारतीय होने पर गर्व करते हैं। भारतीय संस्कृति उनके लिए गौरव का विषय है। प्रवासी साहित्यकार विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार–प्रसार तो कर ही रहे हैं साथ ही यह प्रवासी हिन्दी लेखक अपनी रचनात्मक कृतियों में विभिन्न देशों की विभिन्न संस्कृतियों को समन्वित करने का कार्य भी कर रहे हैं।

आज प्रवासी साहित्यकार पूरी निष्ठा के साथ लेखन कर रहे हैं। यह उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू बन चुका है। वर्तमान समय में प्रवासी साहित्य मुख्य धारा के हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग बन चुका है। ये प्रवासी लेखक हमारे लिए ठीक वैसे ही हैं जैसे अन्य भारतीय लेखक क्योंकि सभी हिन्दी में ही साहित्य–सृजन कर रहे हैं जिससे हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वृक्ष खूब फल–फूल रहा है। प्रवासी साहित्यकार हिन्दी साहित्य में निरंतर नवीन विषयों को समाहित कर रहे हैं जिससे हिन्दी साहित्य समृद्ध ही हुआ है। आवश्यकता है तो केवल इन साहित्यकारों के साथ कदम से कदम मिला कर चलने की,इनको प्रोत्साहन देने की तथा इनके द्वारा रचित साहित्य पर विचार–विमर्श करने की। आज प्रवासी साहित्य का अध्ययन एवं अध्यापन होना चाहिए क्योंकि ये साहित्यकार हमारे हिंदुस्तान की, हिन्दुस्तानी संस्कृति की वह ताकत है जो सम्पूर्ण विश्व में फैले हुए हैं और उन्हें सकारात्मक रूप में प्रभावित कर रहे हैं।

संदर्भ–

1. वर्मा विमलेश कान्ति, प्रवासी भारतीय समाज–भाषा, साहित्य और संस्कृति, आज–कल, जनवरी, 2016, पृ.6।
2. डॉ. गोयनका कमलकिशोर, विश्व हिन्दी रचना, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली,2003।
3. राणा अजय सिंह, अप्रवासी यादगार, साभार आजकल,जनवरी 2014,पृ. 37।
4. शर्मा तेजेंद्र,कब्र का मुनाफा, साभार हिन्दी समय।
5. वही।

■

लोक चिंतन

भोजपुरी लोकगीतों में 1857 की क्रांति

अरुण कुमार *

भोजपुरी क्षेत्र और भोजपुरी बोली का राजनीति में योगदान स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले से है। भोजपुरी क्षेत्र का विस्तार व्यापक स्तर पर है तथा इनका साहित्य भी काफी समृद्ध माना जाता है। भोजपुरी लोकगीतों में सामाजिक गतिविधियों के साथ–साथ देशभक्ति गीतों की भी झलक देखने को मिलती है । स्वतंत्रता संग्राम में भोजपुरी समाज का अद्भुत योगदान रहा है। देश में स्वतंत्रता का बिगुल बजाने में भोजपुर से प्रमुख नाम 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सिपाही और महानायक मंगल पांडेय और वीर कुँवर सिंह थे। चम्पारण सत्याग्रह और राजकुमार शुक्ल का योगदान स्वतंत्रता आंदोलन में स्मरणीय है। भोजपुरी लोकगीतों में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम, चारण साहित्य और राष्ट्रीय चेतना के विप्लवी रूप व स्वर बहुत ही विशिष्टता से देखने सुनने को मिलते हैं। साल 1900 से 1950 को भोजपुरी काव्य का आधुनिक कल माना जाता है।

किसी भी देश की सांस्कृतिक झलक वहाँ रहने वाले जन–समूह के रीति–रिवाज, रहन–सहन, वेश–भूषा, खान–पान, परम्पराओं एवं भाषा–बोली में व्याप्त उनके संस्कारों से मिलती है। प्रत्येक क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति, प्रकृति–पर्यावरण एवं जलवायु का वहाँ की संस्कृति के निर्माण में अपना विशेष योगदान होता है। भारत की संस्कृति एवं समाज में विविधताए ँपायी जाती हैं। ये विविधताएँ प्रत्येक स्तर पर हैं, यहाँ तक कि भाषा और बोली के स्तर पर भी। भारत के प्रत्येक क्षेत्र की अपनी अलग बोली और भाषा है। ठीक इसी तरह भोजपुरी बोली का भी अपना एक क्षेत्र एवं पहचान है। बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले में 'भोजपुर' नाम का बड़ा परगना है। इसी भोजपुर के नाम पर इस क्षेत्र की बोली का नाम भोजपुरी पड़ा जिसकी अपनी सांस्कृतिक अस्मिता है।

भोजपुरी बोली का क्षेत्र–विस्तार लगभग पचास हजार वर्गमील में फैला हुआ है। उत्तर प्रदेश, बिहार व मध्य प्रदेश में इस बोली को बोल ने वालों की संख्या करोड़ों में है। यह बोली उत्तर प्रदेश के बलिया, गाजीपुर, बनारस, मीरजापुर, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, जौनपुर तथा बस्ती जिले के पूर्वी भागों

* पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय में शोधछात्र। संपर्क : ग्राम+पो॰– खनगाँव, आरा– 302163 (भोजपुर, बिहार), मो.– 8210042630

से होकर उत्तर–पश्चिम से होते हुए नेपाल की तराई से बहराइच तक बोली जाती है। बिहार प्रान्त में यह बोली शाहाबाद, भोजपुर, बक्सर, सीवान, सारण, चम्पारण, बेतिया, गोपालगंज तथा मुजफ्फरपुर के उत्तर पश्चिमी कोने में और झारखंड के राँची व पलामू के कुछ भागों में बोली जाती है। मध्य प्रदेश में भी जसपुर व सरगुजा के पूर्वी भागों में भी कुछ स्थानों पर यह बोली जाती है। इसके अतिरिक्त दिल्ली, कोलकाता, पंजाब व महाराष्ट्र आदि औद्योगिक नगरो में भी भोजपुरी बोलने वाले अधिक संख्या में रहते हैं क्यों कि इन नगरों में भोजपुरी क्षेत्र के अधि कतर लोग जीविका की तलाश में जाते हैं। भोजपुरी बोलने वालों की संख्या सिर्फ अपने ही देश में नहीं बल्कि देश के बाहर नेपाल, फिजी, मॉरिशस, सूरीनाम, गुयाना, ट्रिनिडाड, थाइलैण्ड, सिंगापुर, दक्षिण अफ्रीका, जमैका आदि राष्ट्रों में भी मिलती है। इन देशों में भोजपुरी क्षेत्र के लोगों को गिरमिटिया मजदूर बनाकर ले जाया गया। वहाँ पर तमाम प्रताड़ना झेलने के बाद भी ये लोग अपनी संस्कृति और बोली को नहीं भूले। इस वजह से आज भोजपुरी विदेशों में भी अपनी पताका फहरा रही है।

लोकगीत लोक साहित्य की एक विधा है। लोकगीत अधिकतर स्त्रियाँ ही गाती हैं। हालाँकि पुरुष भी गाते हैं किन्तु इनकी संख्या न के बराबर या कम होती है। लोकगीत के माध्यम से स्त्रियाँ अपने दुःख–दर्द को बयाँ करती हैं। क्योंकि पितृ सत्तात्मक समाज में स्त्रियों को वह अधिकार नहीं मिला था कि वे किसी भी गलत चीजों का विरोध खुलकर कर सकें। इसलिए वे अपने मन–मस्तिष्क के भाव को व्यक्त करने के लिए लोकगीतों का सहारा लेती हैं। ठीक इसी तरह भोजपुरी क्षेत्रों की स्त्रियाँ भी अपने अंतर्मन के भाव को गीतों के सहारे व्यक्त करती हैं।

भोजपुरी लोकगीतों में अन्य सामाजिक गतिविधियों (जैसे– संस्कार गीत, ऋतु सम्बन्धी गीत, त्योहारों से सम्बन्धित गीत, जाति गीत आदि) की अपेक्षा राजनीतिक गतिविधियाँ थोड़ी कम देखनेको मिलती है। देशभक्ति के लोकगीतों का गायन अन्य गीतों की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन में कम है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि लोकगीतों की संवाहिका अधिकांशतः स्त्रियाँ ही रही हैं, यह अपने घर–गृहस्थी के सुख–दुःख की अभिव्यक्ति गीतों के माध्यम से करती चली आ रही हैं। स्त्रियों का राजनीतिक सरोकार से कोई विशेष जुड़ाव नहीं रहा। लेकिन फिर भी स्वतंत्रता के पहले ब्रिटिश शासन की गुलामी का दंश पुरुषों के साथ–साथ स्त्रियाँ भी झेल रही थीं और स्वतंत्रता की लड़ाई में उन्होंने भी बढ़–चढ़कर भाग लिया था। इन लड़ाईयों में अपने पति और भाई के खोने का दर्द भी है। स्वतंत्रता के बाद की आर्थिक दशा की मार्मिक अभिव्यक्ति इन गीतों में कहीं–कहीं मिल जाती है। अब उन स्त्रियों को ढूँढना मुश्किल हो गया है जो देश–भक्ति संबंधी गीत गाती थीं। गाँव में घूमने और संग्रह करने पर कुछ गीत तथा लोककथाएँ बुजुर्ग स्त्रियों से मिल जाते हैं। इसके अलावा लोक कवि भी समय–समय पर राष्ट्रीय और राजनीतिक चेतना से सम्बन्धित गीतों के माध्यम से जनता को राष्ट्रप्रेम का सन्देश देते रहते हैं।

भोजपुरी क्षेत्र और भोजपुरी बोली का राजनीति में योगदान स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले से ही है। 1857 ई० की क्रांति से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक और वर्तमान में देश की सीमा पर भोजपुरिया जवान भारत माता की रक्षा के लिए हमेशा डटे रहते हैं। इन वीर जवानों में भोजपुरी क्षेत्र के मंगल पांडे, बाबूकुँवर सिंह के अलावा तात्या तोपे, झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, नाना साहब जैसे नाम अग्रणी हैं। न जाने कितनी माँ–बहनों ने अपने बेटों और भाइयों की कुर्बानियाँ सहीहैं। वर्तमान में भी सीमा पर तैनात वीर जवान आये–दिन दुश्मनों से लड़ते रहते हैं और देश की सेवा करते हुए शहीद हो जाते हैं। वह हर वक्त अपनी जान हथेली पर लिए देश के लोगों की रक्षा करते हैं। भोजपुरी क्षेत्र का विस्तार व्यापक स्तर पर है। 1857 ई० का युद्ध रहा हो या वर्तमान में सीमा पर तैनात फौजी, इनमें अधिक संख्या में भोजपुरिया जवान रहे हैं। जिस प्रकार भोजपुरी जन–मानस को अपनी भाषा से अनुराग है वैसे ही वह अपने देश से भी प्रेम करते हैं तथा राजनीति में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने रैमन का उदाहरण देते हुए लिखा है कि–'1789, दो दिनों के पश्चात सिपाहियों की एक टुकड़ी जो चुनारघर (गढ़) को जा रही थी। मैं बाहर निकला और सेना की मार्चिंग को देखने लगा। वह टुकड़ी खड़ी हो गयी। उस टुकड़ी के मध्य से कुछ आदमी निकलकर एक अँधेरी गली में गये और एक मुर्गी को पकड़ लिया। इसपर लोग करुण क्रन्दन करने लगे। तब उनमें से एक आदमी ने भोजपुरिया मुहावरे मेंउनसे कहा इतना मत चिल्लाओ, आज हमलोग फिरंगी के साथ जा रहे हैं परन्तु हमलोग चेत सिंह के ही नौकर (आसामी) हैं।'[1] इस घटना से पता चलता है कि भोजपुरियों में अपने देश के प्रति प्रेम और समर्पण की भावना कूट–कूट कर भरी है। परिस्थितिवश फिरंगियों के साथ जाते हुए भी अपने देश के लिए ही समर्पित हैं। इनका प्रभाव भी लोकगीतों के माध्यम से मुखर होकर सामने आता है।

ब्रिटिश शासन के अत्याचार से किसान, मजदूर, आदिवासी आदि सभी परेशान हो गये थे। किसानों से जबरदस्ती नील की खेती करवायी जाती थी और उसपर विभिन्न प्रकार के कर लगाकर उनसे पैसे वसूला जाता था। मजदूरो से भी अधिक काम करवाकर मजदूरी कम दी जाती थी। किसान–मजदूरों के साथ–साथ आदिवासी समुदाय को भी अंग्रेजों द्वारा प्रताड़ित किया जाता था। इसी वजह से किसान–मजदूर और आदिवासी समुदाय के साथ–साथ क्षेत्रीय राजा जिनकों अंग्रेजों की गुलामी पसंद नहीं थी, ये सब अपने–अपने स्तर से ब्रिटिश हुकुमत का एक साथ विरोध कर दिए और यह विरोध देश के प्रत्येक हिस्सों में था। जिसको इतिहास में सन् 1857 की क्रांति के नाम से जानते हैं। सन् 1857 ई० की क्रांति के आगाज के साथ ही ब्रिटिश शासन की नींव हिल गयी थी। इस क्रांति का बिगुल फूँकने वाले प्रथम व्यक्ति भोजपुरिया वीर जवान मंगल पांडे थे, जो अंग्रेजों के मेरठ छावनी में सैनिक थे। इन्होंने एक अंग्रेज अधिकारी पर गोली चलाकर परतंत्रता के खिलाफ स्वतंत्रता की जंग का ऐलान कर अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह से मेरठ बाजार में इतनी अराजकता

फैल गयी कि चारों तरफ लूट–पाट होने लगा। इस संग्राम से स्त्रियाँ भी प्रभावित हुई थीं। एक स्त्री अपने पति को धन–सम्पत्ति लूटने को कहती है किन्तु पति महंगी वस्तु लूटकर नहीं लाता है। जिसकी अभिव्यक्ति इस भोजपुरी गीत में देखने को मिलती है–

लोग सब लुटेले साला, दुसाला, हमार संइयाँ जी लुटले रुमाल।
मेरठ के सदर बाजार बा, हमार संइयाँ जी लूटे ना जाने।[2]

पत्नी अपने पति को उलाहना देते हुए कहती है कि 'तुम कितने सीधे और मूर्ख हो, तुमने तो केवल रुमाल, गिलास और हराम जैसी छोटी वस्तुओं को लूटा और सबने शाला और दुशाला किसी ने मोहर और अशरफी जैसी बहुमूल्य चीजों की लूट की,यह लूट कोई सामान्य लूट नहीं थी। यह अंग्रेजी शासन से त्रस्त आकर आम जनता द्वारा की गयी लूट थी। अंग्रेजी शासन की क्रूरता ने आमजनता के ऊपर खूब अत्याचार किया। इसी अत्याचार का परिणाम 1857 ई० की क्रांति का मेरठ लूट कांड था।

1857 ई० की क्रांति हमारे देश की वह पहली क्रांतिथी, जिससे अंग्रेजी शासन को यह एहसास हो गया था कि अब भारत में हमारा शासन अधिक दिन तक नहीं चलेगा। क्रांतिकारी दल देश के सभी वर्गों के नेता, मजदूर, किसान, आदिवासी और राजा–महाराजा के साथ मिलकर योजनाबद्ध रूप में अनेक स्थलों से अंग्रेजी शासन को खदेड़ना शुरू कर दिया। इस क्रांति में भारतीयों के पास गोला, बारूद, बन्दूकें नहीं थी परन्तु अंग्रेजी सैनिक आधुनिक हथियारों से लैस थे। भारतीय सेना के पास लाठी, पत्थर के आलावा अंग्रेजों से लूटा हुआ कुछ हथियार था, जो युद्ध के लिए पर्याप्त नहीं था। अंग्रेजी सेना द्वारा जब गोले, बारूद दागे जाते थे तो देश की निहत्थी सेना और निरीह जनता जा`युद्ध में भाग लेते थे, डरके मारे भाग जाते थे। जिसका वर्णन इस गीत में मिलता है–

मोर भाईया कहीं देखल कम्पनी निसान। लार्ड लेक मार लेला हिन्दुस्तान।
लाल–लालकुर्ती, कव्वे गव्वे जवान। हाथ में पत्थर काला, पीठ पर तो सदान।
आगे–आगे पलटन, पीछे–पीछे सवार। तोप के डंकार से भागे हिन्दू, मुसलमान।
दस–दस कम्पनी, जवना में गोरे–गोरे कप्तान।
गुलामी फेर बोले ला निकल जातबा जान।[3]

मुगल शासन और अंग्रेजी शासन के प्रति आम जनमानस की भावना का स्वर मुख्यतः लोक कवियों के गीतों में मुखरित हुआ है। 1857 ई० भारतीय इतिहास का वह समय था जब भारत के लोगों को एहसास हो गया कि ब्रिटिश सरकार हमारे देश में हमारे ही ऊपर शासन और अत्याचार कर रही है। अब यहाँ की जनता की आँखें खुल रही थी। जगह– जगह से धीरे–धीरे अंग्रेजों के प्रति विद्रोह की आवाज उठने लगी थी। भोजपुरी प्रदेश के अनेक योद्धा ओं ने इन क्रूर

शासकों के प्रति लोहा लिया और लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हा`गए। मंगल पांडेय और पीर अली को फाँसी के बाद भोजपुरी जनता में विशेषकर बिहार राज्य के शाहाबाद जिला के जगदीशपुर निवासी बाबू कुँवर सिंह के भीतर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति घृणा भर गयी। वह ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने वाले भोजपुरी प्रदेश के अग्रणी योद्धा थे। इन्हों ने अस्सी वर्ष की उम्र में अपनी वीरता का अद्भुत परिचय दिया था। ब्रिटिशकाल में गायों और स्त्रियों पर घोर अत्याचार हो रहा था। दिन–दहाड़े स्त्रियों की इज्जत लूट ली जाती थी। वे गरीब, किसान–मजदूरों को मारते–पिटते थे, उनके घर को लूट कर फूँक देते थे। ये सब अत्याचार देखकर कुँवर सिंह का हृदय दहल जाता था। स्त्रियों की इज्जत बचाने और हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए बाबू कुँवर सिंह ब्रिटिश ने शासन से जमकर लोहा लिया। उनकी वीरता का गुणगान भोजपुरी लोकगीतों में देखने को मिल जाता है– 'करलस देस पर जुलुम जोर फिरंगिया/जुलुम कहानी सुनि तड़पे कुँअर सिंह/बनके लुटे ला उतरल फौज फिरंगिया/सहर गाँव लूटी फूँकी देहलस फिरंगिया/सुन–सुन कुँवर के हिरदय लागल अगिया।'[4]

उनकी प्रशंसा में अपने–अपने तरीके से लोक कवियों ने गीतों के माध्यम से उनके शौर्य का गुणगान किया है। ये गीत आम जन के हृदय में आज भी क्रांति का दीप जलाते रहे हैं। इन गीतों को लोग आज भी बड़ी उत्साह से गाते और सुनते हैं।

1857 ई० की क्रांति में अंग्रेज अवध के नवाब और उनकी बेगमों के साथ कैसा दुर्व्यवहार किया था, यह इतिहास में दर्ज है। तत्कालीन दल्ली सम्राट बहादुर शाह को कैद कर रंगून भेज दिया गया और वाजिद अली शाह को लखनऊ से हटाकर कलकत्ता में कैद कर दिया गया। वाजिद अली शाह के बेगमों के साथ जो अत्याचार हुआ, उसकी आवाज ब्रिटिश पार्लियामेंट में सुनाई पड़ी थी। जिसका वर्णन 'रघुनाथ कुँवर' नामक लोक कवि ने अपने गीत में किया है। इस घटना की सच्चाई का वर्णन उन्होंने अपने निम्न गीत में किया है।

श्री पति महाराज अब विपति निवार, कब अइहें नवाब देस हो।
पहिला मुकाम कानपुर कइले, दोसर मुकाम बनारस हो।
तीसर मुकाम कलकत्ता में कइले, बेगम तो भगली पहाड़ हो।
रघुनाथ कुँवर बाड़ा दुख से कहत बाड़े, सबके भइल बनवास हो।[5]

अंग्रेजों से अपनी लोहा मनवाने वाली झाँसी की रानी का नाम विश्व प्रसिद्ध है। 1857 ई० की क्रान्ति में भाग लेकर रानी लक्ष्मी बाई ने अंग्रेज सिपाहियों के छक्के छुड़ा दिए और अंत तक अंग्रेजों से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुई थी। भोजपुरी लोक गीतों में उनकी वीर गाथा का सजीव चित्रण मिलता है–

बुर्जन बुर्जन तोप लग लबा, गोला चलेला आसमानी।
सगरे सिपाहिन के पेड़ा जलेबी, अपने चबावें गुड़घानी।
अंगरेजन से भइल लड़ाई, ढूंढे मिले न पानी।

खूब लड़ले सिमरदानी, ऊ त झाँसी वाली रानी।[6]

उपर्युक्त गीत में झाँसी की रानी की वीरता के साथ–साथ उनकी सहृदयता का भी पता चलता है कि वह अपने सैनिकों का कितना ध्यान रखती थी। वहीं शत्रु अपने सैनिकों को पानी तक भी नहीं देते थे।

भाषाशास्त्री डॉ. ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' में भोजपुरी को लेकर कहा है कि 'भोजपुरी उस शक्तिशाली, स्फूर्तिपूर्ण उत्साही जाती की व्यावहारिक भाषा है जो परिस्थिति और समय के अनुकूल अपने को बनाने के लिए सदैव प्रस्तुत रहती है'।

भोजपुरी क्षेत्र हमेशा से उर्वर रहा है। इस क्षेत्र के लोग किसी भी घटना कोअपने आन–बान–शान पर ले लेते हैं। चाहे वह सन् 1857 की क्रांति हो या देश को स्वतंत्र कराने के लिए हुए आन्दोलन हो या फिर वर्तमान समय में देश की सीमा सुरक्षा बल में, सब में बढ़–चढ़कर भोजपुरी बोली बोलने वाला व्यक्ति ही भाग लेता है। यह कहना अतिशोक्ति न होगी की भोजपुरी लोकगीतों ने क्रांति की अलख जगाई तथा उस कालखंड में लोकगीतों ने जनमानस को स्वतंत्रत ा संग्राम से जुड़ने की बहुत प्रेरणा दी थी।

सन्दर्भ :–

1. अहमद डॉ० अल्ताफ एवं परवीन निजाम अंसारी सं०, भोजपुरी काव्य चयनिका, पृ० सं०– 19, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
2. उपाध्याय डॉ० रविशंकर, भोजपुरी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० सं०– 384, कला प्रकाशन, न्यू साकेत कालोनी, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2006 ई०।
3. वही, पृ० सं०– 385
4. चतुर्वेदी संतोष कुमार, भोजपुरी लोकगीत में स्वाधीनता आन्दोलन, पृ० सं०– 57, लोक भारती प्रकाशन, इलाहबाद, प्रथम संस्करण 2014 ई०।
5. उपाध्याय डॉ० रविशंकर, भोजपुरी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० सं०– 385, कला प्रकाशन, न्यू साकेत कालोनी, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2006 ई०।
6. वही, पृ० सं०– 386

■

लोक चिंतन

भोजपुरी के लोकगीतों में सामाजिक चेतना

चाँदनी प्रकाश *

लोकसाहित्य लोकजीवन का आइना होता है। लोकजीवन की एक इकाई मनुष्य द्वारा ही प्रत्येक समाज की धुरी निर्धारित होती है। प्रत्येक समाज चेतना और जागरूकता से ही आगे बढ़ सकता है, परम्पराएँ एवं प्रथाएँ उसे सिर्फ नियंत्रित कर सकती हैं। भोजपुरी समाज भी इससे परे नहीं है। चेतना भी विभिन्न स्तर की होती है, जैसे सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक व समसामयिक। भोजपुरी समाज में भी ग्रामीण जनमानस की एक मौलिक चिंता धारा है, जिसपर ग्रामीण समाज चलता है, उनके जीवन की मुलभूत चीजों का निर्धारण इसी से होता है। यह मौलिक चिंतन धारा जल्द परिवर्तित नहीं होती है, इसमें बदलाव सहजता से नहीं आ पाता हैं। ग्रामीण जीवन में बदलाव न आसानी से आता है और न ही परम्पराएँ आसानी से छुटती हैं। ऐसी स्थिति में भोजपुरी क्षेत्र के जनमानस में किस प्रकार बदलाव हुआ और इनका प्रतिफल उनके सामाजिक जीवन और उनकी चेतना से जुड़े लोकगीतों में किन रूपों में हुआ इसी की पड़ताल इस आलेख का उद्देश्य है।

सामाजिक चेतना, दहेज प्रथा, स्त्री पीड़ा, जीविकोपार्जन महँगाई, परिवर्तन प्रकृति का नियम है, जीवन और समाज के साथ–साथ ग्रामीण लोकमानस भी इससे भिन्न नहीं है। ग्रामीण लोकमानस से निकला लोकगीत कच्चा चिट्ठा की तरह होता है, जिसे शास्त्रीय रूप नहीं दिया जाता और न ही उसकी देखरेख की जाती है, यह वनपुष्प के समान होता है, जो स्वयं कलि से पुष्प बनता है एवं वन को सुगंधित करता है, उसकी इस यात्रा में माली उसकी देख–रेख नहीं करता। इन लोकगीतों में सहज एवं सरल तरीके से अपनी संवेदनाओं, चेतनाओं एवं अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर दिया जाता है, जैसे यह लोकगीत–

"गंगा पैठी बाबा सुरुज के बिनवइ, मोरे बूते घेरिय जिनि होई
घेरिया जनम तब दीह विधाता, जब घर सम्पति होई।"[1]

एक बेबस एवं दीन पिता की मनोव्यथा को प्रकट करता है। इस लोकगीत के माध्यम से एक दीनहीन पिता अपनी लाचार स्थिति को व्यक्त करते हुए 'सुरुज' से कहता है कि वह अपनी लड़की की शादी के लिए दहेज देने में असमर्थ है, इसलिए हे भगवान!, अगर घर में धन दौलत हो, तभी ही बेटी देना।

* संपर्क– पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय में शोधप्रज्ञ। ग्राम*पोस्ट– रसूलपुर कोरीगाँव, थाना गोरौल, वैशाली–844114 (बिहार)

लोकगीत में विरह में डूबी स्त्री की पीड़ा को भी अभिव्यक्त किया गया है, जैसे निम्न जँतसार लोकगीत में एक नारी की विरह व्यथा का चित्रण हुआ है, जिसका पति कमाने 'बिदेस' जा रहा है।

'सबेरे बिदेसिया बिदेसे जाय, कौड़ी के लोभन हो राम,
राजा हम धना बारी बयसवा, जियब हम कइसे हो राम,
धना नैहर पठयू सनेसवा, बीरन के बोलाइ लिहू हो राम
धना गोदिया में लिहू भतीजवा, नगर घूमे आइउ हो राम
राजा अन्तहि जन्मी भौजिया, भतिज छोरि लेइहैं हो राम,
राजा फटी जैहें बजर की छतिया करेज मोरा बिहरै हो राम।[2]

वह कहती है कि सबेरे पैसा कमाने के लिए बिदेस चले जाओगे, पीछे मुझे छोड़े जा रहे हो, मैं कैसे जिऊँगी। वह अपने पति से कहती है कि मेरे मायके संदेश भिजवाकर मेरे भाई को बुला कर मुझे नैहर भेज दो, ताकि वहाँ भतीजे–भतीजी को खिलाकर मेरा चित्त लगा रहेगा। बिरह के दिन को सोचकर मेरा बजर के समान कलेजा फटा जा रहा है। यहाँ एक स्त्री के उस मनोभाव का चित्रण हुआ है, जिसमें पति के बिना ससुराल का कोई अर्थ नहीं रह जाता, तो उसका ठिकाना फिर से मायके ही हो जाता है, दूसरी तरफ अपने कांता से हुए विरह के कारण उसके हृदय में खुद की संतान की चाह धीमी पड़ जाती है, तो उसका ममत्व अपने भाई के बाल–बच्चों के लिए उमड़ पड़ता है। जो स्त्री के भीतर करूणा एवं विवशता के कारण प्रकट हुआ है। इस लोकगीत के माध्यम से परिस्थितयों के साथ सामंजस्य बैठाने के स्त्री के मनोभाव को प्रकट किया गया है।

'नागमती वियोग खंड' में रानी नागमती का वियोग भी इसी दारूण अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है–

'जिन्हे घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब। कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब।।' (नायसी ग्रंथवली, आ॰ रामचंद्र शुक्ल)

जँतसार गीत में करूण रस की मात्रा अधिक होती है। फोक्लोरिस्ट डॉ॰ कृष्ण बिहारी मिश्र ने जँतसार को श्रमगीतों से जोड़कर देखते हैं एवं इसे 'श्रम संबंधी लोकगीतों' की श्रेणी में रखते हैं।

जँतसार वे गीत हैं जिन्हें स्त्रियाँ जाँता चलाते समय अपने श्रम को लाघव करने के लिए गाती हैं। 'जाँता' या चक्की के गीतों में नारी हृदय की वेदना और टीस के चित्र मिलते हैं। करूण रस के लगभग सभी मार्मिक प्रसंगों की अवतारणा इन गीतों में पाई जाती है। पुत्रहीन तथा पतिविहीन बंध्या एवं विधवा स्त्रियों का दुःख इन गीतों में साकार हो उठता है।[3]

अन्य लोकगीतों की तरह भोजपुरी समाज के लोकगीतों में भी सामाजिक संबंधों पर लोकगीत मिलते हैं। सामाजिक संबंध मुख्य रूप से दो प्रकार के संबंधों से बनता है प्रिय और अप्रिय। प्रिय संबंध में माँ–बेटी, बाप–बेटा, बहन–भाई, प्रेमी–प्रेयसी, पति–पत्नी ये सब आते है, जबकि अप्रिय संबंध में–सास–बहू, ननद–भावज मुख्य रूप से उल्लिखित है।

अप्रिय संबंध में मधुरता के लिए कम ही स्थान रहता है। इसे व्यक्त करता हुआ एक जँतसार गीत निम्न है–

"सेर भरि गेहुँआ रे सासु जोखि दीहली हो राम
अरे जँतवा गड़वली गजओबरि हो राम
जँतवा धइले साँवरि झुरवेली हो राम
बाट बटोहिया रे तुहूँ मोरे भइया हो राम
पिया से कहिअ सनेस धाइ के हो राम
तोरी धनी माँगे ले पंचरंग बेनिआ हो राम
तोहरा बलमु जी के चिन्हलों या जनलो हो राम
कइसे कहिब समुझाइ के हो राम
हमरा बलमु जी के बड़ी बड़ी अंखियाँ हो राम
आरे लादे ले जीरा के लदनिया हो राम
चिरई मारत होइहें बगिया में हो राम
चिरई कहेली तुहूँ राजा के बेटवना हो राम
तोरी धनी माँगेली पंचरंग बेनिआ हो राम
बेनिया बेहसत टका चार लगले हो राम
डाटवा बनावत घोड़वा बिकाइल हो राम
बाट बटोहिया रे तुहूँ मोरे सखा हो राम
आरे धनी से कहिह समुझाइ के हो राम
आरे रतिया डोलइहें दिनवा चोरइहन हो राम
बेनिया डोलावल अइही सुख निनिआ हो राम
आरे परि गइली सासु ननदि के नजरिआ हो राम
बापे खाऊँ भइया खाऊँ तोहरी बहुअवा हो राम
आरे केई भेजावल सोना रूपा बेनिआ हो राम
हमरो बेटवना बहू राजा के नोकरिया हो राम
जीरा के लदनिया कहँवा पवले सोना रूप बेनिया हो राम।[4]

इस जँतसार गीत के माध्यम से पारिवारिक सामाजिक जीवन की छवि स्त्री कंठ द्वारा साकार हो उठी है। इससे जँतसार गीत से यह स्पष्ट होता है कि बहु से कमरतोड़ मेहनत तो करवायी जाती है लेकिन उसे छोटी–छोटी सुविधाओं से भी वंचित रखा गया है। उसका पिया स्नेही है। वह गरमी से राहत के लिए पति द्वारा उसे 'बेनिया' पंखा भेजता है, इस हिदायत के साथ कि वह इसे सास–ननद की नजर से छुपा कर रखे और सिर्फ रात में ही इसका उपयोग करे, लेकिन सास–ननद पंखा देख लेती है और उसे गालियाँ (बापे खाऊँ भइया खाऊँ) देती हैं।

साहित्य में कल्पना का समावेश होता ही है, लोकगीत भी इससे परे नहीं है। जैसे इस गीत में 'चिरई मारत होइहें बिकाइल हो राम' पंक्ति में अपने प्रियजन की सामाजिक आर्थिक स्थिति को बढ़ा–चढ़ा कर दिखाया गया है। डॉ॰ दिनेश्वर प्रसाद के शब्दों में "उनका पारस्परिक विरोध मुख्यतः सामाजिक जीवन में आदर्श और यथार्थ में संगति के अभाव से उत्पन्न होता है, और कोई भी समाज ऐसा नहीं, जिसमें दोनों के बीच यशत–प्रतिशत संगति विद्यमान हो।[5] लोकगीत समुदायपरक

अभिव्यक्ति है, इसमें व्यशिट के स्थान पर समशिट का प्रकाशन हुआ है, पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि "अधिकांश लोकगीतकार या लोकगीत गायक सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्ग से आते हैं। इसीलिए समाज में व्याप्त अत्याचार, शोषण, अविचार, दुःख एवं दरिद्रता को उन्होंने करीब से देखा है। फलतः उनके द्वारा रचित लोकसंगीतों में जीवन का वास्तविक परिचय तो मिलता ही है, साथ ही एक प्रकार का प्रतिवादी मनोभाव का भी प्रकाशन पाया जाता है।"[6]

भोजपुरी लोकगीत में भी विशेष उपमान का सहारा नहीं लिया गया है, सहज सामान्य उपमान का ही प्रयोग किया है, जो इसकी सजीवता एवं जीवंतता को दर्शाता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

"तन मोर अदहन, मन मोरा चाउर नयन मूँग के दाल
अपने बलम के जेवना जेबइबे बिनु अदहन बिनु आग।[7]

इस लोकगीत में सहज रूप से उपलब्ध वस्तुओं (उपनामों) द्वारा नायिका के मनोभाव को दर्शाया गया है। सामाजिक चेतना का क्षेत्र सभी भाषाओं के लोकगीतों में व्यापक है। इसमें मनुष्य के जीवन में होनेवाली सभी घटनाओं, समस्त जुड़ाव को देखा जा सकता है, जीवन के सभी पक्ष इसमें समाहित हो जाते हैं।

मनुष्यमात्र के जन्म लेने के उपरांत ही उसकी पारिवारिक चेतना का विस्तार कालान्तर में सामाजिक चेतना के रुप में परिवर्तित होता है। तदुपरान्त यह विस्तृत होकर देश–देशांतर की चेतना में समाहित हो सकती है। यह व्यक्ति के समसामयिक स्थितियों और परिवेश सापेक्ष होता है।[8]

जीविकोपार्जन के लिए ग्रामीण आदमी शहर चला जाता है, ऐसी स्थिति में उसकी पत्नी की स्थिति विरहिणी की हो जाती है, इस लोकगीत के माध्यम से विरहिणी स्त्री की पीड़ा को अभिव्यक्त किया गया है–

"आम महुअवा के धनी रे बगिया, ताहि बीचे राह लागि गइली हो राम
ताहि तर ठाढ़ भइली एक रे सोहागिनी, नयना से निरवा ढारे हो राम।[9]

जब नायिका का परदेसी पति लंबे समय तक लौटकर नहीं आता है तो प्रिय के न लौटने की वजह के बारे में नायिका सोचती है। उसे लगता है कि नौकरी की मजबूरी हो सकती है या उसे सौत का डर भी सताने लगाता है, क्योंकि परदेशी पति द्वारा कई बार तो 'परनारी' के संसर्ग में पड़कर अपनी पत्नी को भूल जाने की घटनाएँ होती रहती है। कई बार तो उस 'परनारी' को पति सौत के रूप में घर भी ले आता है।

"ससुराल में बहू सिर्फ सास–ननद के अत्याचार ही नहीं सहती साथ ही पति द्वारा लायी गई सौत के दुःख को भी सहन करती है, क्योंकि लोकायत समाज राष्ट्रीय आइन–कानून की बातें अच्छी तरह से न ही जानता है और न ही सहजता से उसका आश्रय लेता है, वे एकमात्र समाज के दास हैं और इस समाज में पुरूषों द्वारा बहु–विवाह और बहु–पत्नी स्वीकृत है।"[10]

स्त्री का आभूषण प्रेम सर्वविदित है, उसे भवन से ज्यादा कंगन प्रिय होता है, उसके लिए सौत से बड़ी दुश्मन संसार में कोई नहीं है। और उसको पति के

द्वारा सौत को दिलाए गए कंगन तो मानो विष की तरह प्रतीत होता है वैसे ही कंगन के लिए उसका भी मन कचोटने लगता है। एक भोजपुरी लोकगीत में स्त्री की इसी मनोभावना का चित्रण किया गया है– "पिया सौतिन के कंगनवा जिया अगिया लगावे, कंगना गढ़ल पिया बंगला गढ़नवा हमरो गढ़ा द पिया अइसने कंगनवा, कंगना बिना रे मोरा भवनो न भावे।[11]

लोकगीतों की महत्वपूर्ण विशेषता उसकी सतत् प्रवाहमयता में है, जो काल की गति के समान निरंतर प्रवाहित होता हुआ, अपने देश, काल एवं वातावरण से प्रभाव ग्रहण करता और रूपांतरित होता रहता है। यह एक स्वतः स्फूर्त चेतना है जिसे लोकगीतों में अनायास पिरो लिया जाता है।[12]

इसलिए लोकगीत को जन समुदाय की अनुभूतियों के प्रकटीकरण का सबसे प्रामाणिक माध्यम माना जा सकता है। लोकगीत काव्यशास्त्र मानदण्डों एवं शिष्ट साहित्य की जटिल वाक् विदग्धता से मुक्त है। सरल सहज भावोच्छ्वासों को देशज भाषा एवं शैली में लोकमानस सरलता से अभिव्यक्त करता है। इसीलिए लोकगीत किसी भी समाज की वह धारा है, जहाँ कृत्रिमता का कोई स्थान नहीं है।

सन्दर्भ सूचीः–

1. डॉ॰ जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ॰ 398
2. वहीं, पृ॰ 469
3. वहीं, पृ॰ 468
4. वहीं, पृ॰ 468
5. डॉ॰ प्रसाद, दिनेश्वर, लोक साहित्य और संस्कृति, जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ॰ 211
6. सं॰ मजुमदार, प्रेमेन्द, लौकिक उद्यान प्रसंग लोकसंगीत, UBI Staff Welfare & Culture, कोलकाता, 1998, पृ॰ 600
7. डॉ॰ जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ॰ 4
8. शर्मा, रंजन, भोजपुरी तथा बंगला लोकगीतों में सामाजिक चेतना, Heritage, Vol-VI, पृ॰ 4
9. डॉ॰ जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ॰ 472
10. घोषाल, छंदा, टूसू कथा, बंगीय साहित्य संसद, 1412 बंगाब्द, कोलकाता, पृ॰ 49
11. डॉ॰ जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999
12. शर्मा, रंजन, भोजपुरी तथा बंगला लोकगीतों में सामाजिक चेतना, Heritage, Vol-VI, पृ॰ 128

■

लोक चिंतन

'भामती' में लोक संस्कृति

निधि कुमारी *

उषाकिरण खान संवेदना की धनी और प्रकृति धर्मी ऐसी महिला कथाकार हैं जिनका प्रत्येक शब्द कर्म नैसर्गिक और लोकधर्मी प्रतीत होता है। वे व्यष्टि चेतना से अधिक समष्टि चेतना को, नागरिक जीवन की तुलना में लोकजीवन को आयातित बोझिल विचारों की अपेक्षा भारतीय सामाजिक मगर आत्मिक जीवन को अपनी रचनाओं का विषय बनाती हैं। उनकी रचनाओं में वर्णित समाज अपने में लोक को समेटे और सँभाले हुए है। लेखिका की मनोभूमि में लोकमानस गाढ़ेपन के साथ रचा–बसा है। जीवन की सैद्धांतिकी से कहीं अधिक उनकी लेखनगत दिलचस्पी–लोकधर्मी जीवन की व्यवहार कुशलता में है। विशेषतः उषाकिरण खान की कथा–रचनाओं में मिथिलांचल की महिमामयी मधुर संस्कृति उत्कर्षता पाती है। लोक 'संपृक्ति' उनकी रचनाओं की खास विशेषता है।

उषाकिरण खान की प्रसिद्ध प्रकाशित रचनाओं में विवश विक्रमादित्य (1980), दूबधान (1985), गीलीपांक (1995), कासवन (2998), जलधार (2002), जनम अवधि (2008), घर से घर तक (2008), मौसम का दर्द (2015), खेलत गेंद गिरे यमुना में (2020), उसी देहरी पर (2023) आदि उनकी कहानियों का संग्रह है। फागुन के बाद (1996), सीमांत कथा (2002), हसीना मंजिल (2005), रतनारे नयन (2006), पानी पर लकीर (2009), सिरजनहार (2010), अगन हिंडोला (2015), गई झुलनी टूट (2018), वातभक्षा (2021), गहरी नदिया नाव पुरानी (2022), आशाःबारहखड़ी विधाता बॉचे (2023) आदि प्रकाशित और चर्चित उपन्यास हैं। कहानी, उपन्यास के अतिरिक्त उन्होंने हिंदी में बाल उपन्यास, नाटक, बाल नाटक, जीवन–यात्रा, कथेतर गद्य, खंडकाव्य भी लिखा है। साथ ही उनकी मैथिली भाषा में रचित कहानियां, उपन्यास, नाटक, बाल नाटक का भी एक समृद्ध संसार है।

भारतीय संस्कृति 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' की लीक पर चलते हुए मानवता

* लेखिका बाबा साहेब भीमाव अंबेडकर विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर में शोध छात्रा हैं।
संपर्क– द्वारा सुनील कुमार, कोतहुआ पैगम्बरपुर बेरिया, पुरानी मोतिहारी रोड, मुजफ्फरपुर–843108 (बिहार), मो.–8210328226

को जीवंत रखती है तथा साथ ही व्यापक स्तर पर 'वसुधैव कुटुम्बकम' सूत्र के साथ जुड़ जाती है। इसलिए जब भी उषा किरण खान मिथिला की माटी की कोई कहानी उठाती है तो वह लोक तंत्र में रच–बस जाती है। उस मसय की लोकजीवन, सामाजिक जीवन, लोक इतिहास, क्षेत्रीय विशेषताओं, आर्थिक परिस्थितियों, राजनीतिक त्वंचाहंच के साथ–साथ तीज–त्यौहार, रस्मोरिवाज, विभिन्न प्रथाएं आदि को समेटने में सक्षम ही नहीं होती बल्कि उपन्यासों में जान फूंक देती है। इसलिए रचनाएं कालजयी सी हो जाती है। और इसी तरह की कालजयी उपन्यास है–'भामती'।

यह उपन्यास वाचस्पति मिश्र और उनकी पत्नी पर केंद्रित है। यह दोनों मध्यकालीन संक्रमण के दौर के मिथिला के विद्वान व्यक्तित्व हैं। नवविवाहिता भामती अपने पति वाचस्पति मिश्र की सेवा करती हुई भारतीय संस्कृति का जीवंत उदाहरण प्रस्तुत करती है जिसके कारण वाचस्पति मिश्र अद्‌वैतवादी सिद्धांत के प्रवर्तक शंकराचार्य द्वारा दिए गए 'भाष्यसूत्र' जैसे कठिन ग्रंथ की टीका करके मिथिला के मंडन मिश्र जैसे विद्वानों की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए गुरुऋण से स्वयं को मुक्त करते हैं। परंतु भामती का चरित्र यशोधरा, उर्मिला, सीता जैसी नारी की प्रतिनिधित्व करती नजर आती है। उषा किरण खान स्वयं स्वीकार करती है कि–"मिथिला में 'भामती' सीता के बाद सबसे परिचित तथा लोकप्रिय पात्र है।"[1] टीका पूरा होने के 18 वर्ष पश्चात् जब उन्हें स्मरण होता है कि सामने बैठी स्त्री कौन है? तब भामती की आत्मशक्ति वाचस्पति मिश्र को इतना अधिक प्रभावित करती है कि अपने टीका का नामकरण 'भामती टीका' कर एक ऐतिहासक कीर्तिमान स्थापित करते हैं तथा भामती के निधन के बाद उनकी याद में पोखर खोदावाया जिसका अस्तित्व आज भी है–मिश्राइन पोखर।[2] उषा किरण खान स्वयं कहती है कि– "यह मात्र एक पत्नी का पति के लिए त्याग नहीं लगा मुझे; यह तो एक शिक्षा तथा ज्ञान प्रेमी व्यक्ति का अपने समय के विशिष्ट विद्वान के प्रति मनचीता समर्पण लगा। वहां एक इतिहास रचा जा रहा था। ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की टीका की जा रही थी। यह भामती के 'विद्या' खंड की बात है, पर वहीं 'अविद्या' खंड में उनके प्रौढ़ प्रेम की चर्चा है जिसके कारण पुस्तक का नाम "एक अविस्मरणी प्रेमकथा"[3] पड़ा।

लोक संस्कृति में जो तत्व समाहित होते हैं उनमें कृषि जीवन, लोकगीत, लोकगाथाएं, लोकउत्सव, ग्रामीण बोली, रहन–सहन, लोक विश्वास, लोक परंपराएं, लोकजीवन के रंग–ढंग आदि प्रमुख है। इन्हीं लोक तत्वों के समुच्चय को लोक–संस्कृति कहते हैं। उषाकिरण खान के उपन्यास 'भामती' में ये सारे तत्व समाहित है। भामती में लोक संस्कृति कैसे जीवंत हो उठती है उसकी एक बानगी देखिए– "कार्तिक माह की मध्य दुपहरी थी। गृहिणी चौका समेट, चूल्हा बुझा देहरी पर टिकी बैठी थी। स्वामी को भोजन जिमा स्वयं उसी थाली में खा लिया

था। चढ़ते रोहिणी नक्षत्र में जो घिआहा लौकी का बीज रोपा था वह भकरार होकर छप्पर पर फैल गई है। छप्पर के किनारे–किनारे बतिया लटक रही है। आज उसी में से एक तोड़कर तरकारी पकाया.....स्वामी के लिए एक मुट्ठी मूंग की दाल पकाई थी। कार्तिक आते ही इनके द्वारा रोपा गया जमीरी नींबू का पौधा लदबद होकर....स्वामी संतुष्ट होकर खाते हैं, हाथ धोकर अपने कक्ष में पुनः लिखने आसन पकड़ लेते हैं। गृहिणी उन्हीं की थाली में भात परोस बैठ जाती है खाने।''[4] एक भारतीय लोक मत जिसमें पति के जूठन थाली में खाना, प्रेम को बढ़ाना का परिचायक है। उस लोक मत का निर्वहन इस उपन्यास में भामती के माध्यम से होता है।

मिथिलांचल आदिकाल से ही सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों की उद्‌गम स्थली रही है। कितना व्यापक और खुला संवाद है कि–''हे सनातनी पंडित, पहले अपने आश्रम और पाठशाला की व्यवस्था को सुदृढ़ करें तब मेरा दान करें?'' यहां वाचस्पति चाहते हैं कि अपनी बहन सुलक्षणा की शादी कर अपने भाई होने के कर्तव्य से मुक्ति पा लूं तो वहीं सुलक्षणा अपने विवाह से पहले भाई की गृहस्थी बसाना चाहती है जिससे आगे बढ़ने में कोई कठिनाई न हो। साथ ही पितृऋण का निर्वहन करें। इन प्रसंगों में लोकजीवन की सुगंध तो है ही साथ ही एक शिक्षित महिला की सामाजिक दायित्वों की पूर्ति प्रकट हो रहा है।

जब वाचस्पति मिश्र गुरु त्रिलोचन के यहां विद्याध्ययन के लिए चले जाते हैं तब समाज के लोग अपने कर्तव्यों से पीछे नहीं हटते हैं–''प्रत्येक माह कुछ न कुछ लेकर गुरु आश्रम पहुंच जाते। पान, मखाना, दही, माछ और नए धान का चिउड़ा–गुड़ इत्यादि पहुंचाना तो कर्तव्य समझते थे... जो गुरु आश्रम से लौटता उन्हें लोग घेर–घेर कर बच्चों की कुशलता पूछते।''[5] ऐसे संवादों से मानव हृदय तृप्त हो उठता है। भारतीय संस्कृति जीवंत हो उठती है। एक बानगी देखिए –''वसंतपंचमी के दिन साल भर जिस मालिक के खेत में हल जोतने का जिम्मा लिया था, उन्हीं की पुत्री के हाथों से वह सगुनिया छाप था।'' मिथिला में यह रिवाज था कि वसंत पंचमी के दिन लिपे–पुते आंगन में हल पकड़कर हलवाहे खड़े होते। हल का फाल ढंक जाए उतना धान, भोजन में सुस्वादु पकवान्न, पान–सुपारी और पीठ का ठप्पा यही प्राप्ति थी उस दिन की। और पीठ पर यह ठप्पा मालिक की पुत्री के हाथों से लगती है, जिसे सगुनिया छाप कहते हैं।

उषाकिरण खान कई बड़े महत्वपूर्ण मुद्दे इतनी सरलता से उठाती है जो किसी भी रचनाकार की सफलता का सूचक होता है। वे तंत्र और तांत्रिकों के ग्रामों में बे रोक–टोक प्रभाव तथा उनके प्रवेश से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को लेकर तत्कालीन राजा के पास जाते हैं। उसके निराकरण के बदले मंत्री का अंधविश्वास और शिव के प्रति आस्था उषाजी कैसे महामंत्री के मुख से कहलवाती है, देखिए–''प्रभुवर आप व्यर्थ ही इस जंजाल में अपने को डालते हैं। महादेव शिव

से बढ़कर कौन है इस संसार में जो किसी को बना या बिगाड़ सकें? जो लोग धर्म के विपरीत कार्य कर रहे हैं वे क्या किसी को वरदान देंगे और क्या श्राप। मुझे कोई शंका नहीं है, वे किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं। आपका भय निर्मूल है।''[6] साथ–साथ बड़े ही सधे हुए सरल ढंग से समझाने में कामयाब होती है कि कैसे इन तांत्रिकों की वजह से स्त्रियों के लिए नए बंधन बने और अपने पिता, भाई (भले ही छोटा हो), पति फिर पुत्र के संरक्षण में ही सुरक्षित मानी जाने लगी।

उस काल–विशेष में, जिसमें वे अपनी कथा को अवस्थित करती है, जब वाचस्पति मिश्र एवं भामती के विवाह के समय वैवाहिक रीति–रिवाजों का नजारा लेते हुए हमें सात के अंक का महत्व रेखांकित करती हैं– ''भामा ने स्वयं चावल घोल पीसकर अरिपन बना लिया था.... ओखल–मूसल, पालों तथा वेदी का प्रबंध किया गया था....तेल लगाकर सीधी मांग निकाल साही के कांटे लेकर करने बैठ गई। अल्पसमय में सात बार यह क्रिया दुहराकर सात लटों वाली चोटी बनाई। विवाह के लिए वर एवं कन्या वेदी पर आये, उससे पहले सप्तमातृ का पूजन सनातन ने किया....।''[7] उषा जी एक 'परफेक्शनिस्ट' की तरह कंधे के प्रयोग का उल्लेख नहीं करके यथार्थ चित्रण में सफल होती है। साथ ही यह बताती हैं कि विवाह में कन्यादान से भी अधिक कोई संस्कार या रीति है तब जाकर वैदिक रीति से कोई विवाह संपन्न होता है–''कन्यादान मात्र कर देने से विवाह नहीं होता है, विवाह तो पाणिग्रहण करने से होता है। आठों प्रकार के विवाह में यही एक आवश्यक क्रिया है।''

कोहबर से लेकर अरिपन और सुहाग पकवानों तक के उल्लेख इस उपन्यास में मिलते हैं। जिस प्रथाओं से समाज भिज्ञ था वह तो था ही लेकिन जिन प्रथाओं से अभिज्ञ थे, जैसे–नये वधू का नामकरण। तब उषा जी वाचस्पति मिश्र के मुख से भामा को भामती कहलवाकर इस रिवाज को आजकल के पाठक एवं श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत करती है। आपत्तिकाल में विपदाग्रस्त प्राणी की सेवा करना मानव धर्म है। मानव धर्म से संबंधित एक प्रकण की ओर इंगित करती हुई कहती हैं कि जबक कुछ बौद्ध श्रमण बीमार हुए और ग्रामवासियों ने ही उनके उपचार आदि की व्यवस्था की–''गांव में थोड़ा असंतोष फैला कि क्यों बौद्ध श्रमणों का उपचार किया गया।''

शंकराचार्य द्वारा सौंपे गए कार्य की टीका करते हुए वाचस्पति मिश्र को 18 वर्ष लग जाते हैं। वहीं दूसरी तरफ भामती भारतीय नारी की दायित्वों का निर्वहन करती हुई सीता, उर्मिला की परंपरा को आगे बढ़ाती हैं। जब वाचस्पति को भान होता है कि 18 वर्षों से सेवा करने वाली स्त्री कोई और नहीं बल्कि मेरी पत्नी है। तब उन्होंने आगे बढ़कर भामती के संपूर्ण त्याग का फल ब्रह्मसूत्र की टीका का नामकरण 'भामती टीका' के रूप में प्रदान करते हैं। साथ ही यह कहा कि सिर्फ ''वंशवृद्धि से ही मुक्ति नहीं मिलती।'' अपने टीका को पुत्र के रूप में

मानकर सदा के लिए इतिहास के पन्नों में अंकित कर पितृऋण से मुक्त हो, भामती को मां होने का सौभाग्य देते हैं।

बहुआयामी बहुस्पर्शिनी प्रतिभा की धनी उषाकिरण खान साहित्य जगत में किसी पहचान की मोहताज नहीं है। 'भामती' उपन्यास अमर लोकगाथा के साथ–साथ गृहस्थ जीवन का एक नयाब बिम्ब है क्योंकि जब लोक समृद्ध होता है तब समाज की मूल आत्मा समर्थ होती है; जब समाज समर्थ रहता है तभी कोई रचनाकार लोक जीवन को चित्रित करने से सफल हो पाता है। यह सफलता उषा किरण खान की उपन्यास 'भामती' में देखा जा सकता है। लोक संस्कृति के माध्यम से सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था भी निरंतर गतिशील रहती है। संस्कृति व्यक्ति एवं समाज के विकास की परिचायक होती है। संस्कृति समाज को आकार देती है और इसी आकार में लोकजन फल–फूल कर विविध प्रकार की उपलब्धियों को हासिल करता है।

संदर्भ सूची–

(1) भामती, मेरा कहना है, उषाकिरण खान, सामयिक प्रकाशन, संस्करण–2021, पृष्ठ संख्या–10

(2) साहित्य समर्था पत्रिकाः वर्ष–03, अंक–12, जुलाई–अगस्त, सितंबर–2020, पृष्ठ संख्या–12

(3) वही, पृष्ठ संख्या–22

(4) भामती, उषाकिरण खान, सामयिक प्रकाशन, संस्करण–2021, पृष्ठ संख्या–13

(5) वहीं, पृष्ठ संख्या–22

(6) वहीं, पृष्ठ संख्या–39

(7) वहीं, पृष्ठ संख्या–62

■

साहित्य विमर्श

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा शैली

डॉ. शिप्रा प्रभा *

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक कवि, साहित्येतिहासकार और निबंधकार ही नहीं, अपितु उच्च कोटि के समीक्षक भी थे। यों तो आधुनिक समीक्षा का सूत्रपात भारतेन्दु–युग में ही हो चुका था, मगर 'शुक्ल जी भारतेन्दु–युग में प्रवर्तित और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तक विकसित आलोचना के भी प्रशंसक हों या उससे संतुष्ट हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस आलोचना–धारा के विकास पर उनकी जो टिप्पणी है, उसका रस रामचन्द्र शुक्ल का संस्कारी पाठक मजे में ले सकता है। बालकृष्ण भट्ट और प्रेमधन जैसे समीक्षकों की आलोचना उन्हें क्या संतुष्ट करती।[1] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना–कृतियों से भी वे सतुष्ट नहीं थे। इसी प्रकार पद्म सिंह शर्मा, प्रताप–नारायण मिश्र और मिश्रबन्धुओं की समीक्षा–पद्धति भी उन्हें दोषपूर्ण मालूम पड़ी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी द्विवेदी–युग के ही समीक्षक थे, मगर अपनी चिन्तन–शक्ति और लेखन–कला से उन्होंने द्विवेदीयुगीन समीक्षा में युगान्तर उपस्थित कर दिया। प्रश्न उठता है कि आचार्य शुक्ल के वैज्ञानिक प्रगतिशील चिन्तन में ऐसी कौन–सी विशेष बात आकर जुड़ गयी जो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के वैज्ञानिक चिन्तन की अपेक्षा हिन्दी समीक्षा के लिए अधिक उपयोगी और विकासपरक सिद्ध हुई? यह नहीं माना जा सकता कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की तुलना में आचार्य शुक्ल अधिक चिन्तनशील और प्रगतिशील थे, मगर इतना तो अवश्य है कि उनकी समीक्षा में वैज्ञानिकता, क्रमबद्धता, प्रगतिशीलता और लोकमंगल की भावना सन्निहित है, भले ही सौन्दर्य का भाव न हो। मगर ध्यान से देखने पर उसमें सौन्दर्य भी दीखता है। सौन्दर्य को देखेने के लिए पाठकों की दृष्टि भी सुन्दर होनी चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि जितनी पैनी, मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक थी, वैसी दृष्टि विरले ही लोगों में होती है। तभी तो मनोविकारों के विवेचन में भी उन्हें काफी सफलता मिली है। उस युग में किसी भी निबन्धकार ने किसी मनोविकार पर कोई निबन्ध लिखने की हिम्मत नहीं की, मगर शुक्लजी ने ऐसा कर दिखाया। फ्रायड, युंग आदि के सिद्धान्तों का उपयोग

*** संपर्क** –एसिस्टेंट प्रोफेस एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना– 800001

शुक्ल जी ने अवश्य किया है, मगर उसका भारतीयकरण भी कर दिया है। यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता है। मनोविकारों पर उनके द्वारा लिखे गये समीक्षात्मक निबन्ध जरूर कुछ विचित्र से लगते हैं, मगर जिस आचार्य शुक्ल को शुष्क, नीरस, नैतिकता का केतु फहरानेवाला तथा स्त्री–सौन्दर्य से मुंह चुरानेवाला कहा जाता है, उन्हीं आचार्य शुक्ल ने 'लोभ और प्रीति' पर एक लम्बा–सा निबन्ध लिखा है। इस निबंध में उन्होंने प्रेम के भाव, स्वरूप और विभिन्न अवयवों पर सम्यक् रीति से अपनी तूलिका चलायी है। इसी निबंध में उन्होंने बताया है कि 'लोभ दौड़ाता है वह कहीं ठहरकर प्रेम बन जाता है। प्रेम का लक्षण अनन्यता है। व्यक्ति से प्रेम और वस्तु से प्रेम में अन्तर है। वस्तु के मन नहीं होता। प्रेमी प्रिय का मन भी चाहता है। जो अच्छा लगता है उसे भी चाहनेवाला, अच्छा लगना चाहता है।[2] शुक्लजी ने इसी निबन्ध में प्रेम को देश से जोड़ा है। प्रेम में पहले देश–प्रेम के लिए स्थान नहीं था। 'प्रेम' का यह विकास साहित्य ने नहीं, साहित्येतर स्थितियों ने किया था। साहित्येतर स्थितियों द्वारा विकसित यह स्थिति मनोविकार बनकर देश–प्रेम कहलाई और साहित्य में भी प्रकट होने लगी। देश–प्रेम राजनीति में था, कविता में था, सर्जनात्मक साहित्य में था, वह सौन्दर्य–बोध में जुड़ गया था, लेकिन आलोचना में मनोविकार के रूप में नहीं पहचाना गया था। शुक्ल जी ने उसमें देश–प्रेम समविष्ट कर दिखाया।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि 'आलोचना के लिए अपनी दृष्टि और कार्य–भार उन्होंने भारतेन्दु–युग की उसी सामाजिक नैतिक चेतना से ग्रहण किया था जिसका विकास एक रीतिवाद–विरोधी अभियान के रूप में महावीर प्रसाद द्विवेदी में दिखाई देता है। एक आलोचक के रूप में शुक्ल जी की सबसे महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी भूमिका यह थी कि निजी पसन्द–नापसन्द वाली आलोचना को खारिज करके उन्होंने साहित्य के वस्तुवादी दृष्टिकोण का विकास किया और सामाजिक विकास की समानान्तरता में साहित्य को देखने–परखने पर बल दिया। अपने आलोचनात्मक प्रतिमानों के निर्माण और निर्धारण के लिए वे सीधे रचना के पास जाते हैं और रचना एवं सामाजिक व्यवहार के आधार पर अपने प्रतिमानों को व्यवस्थित करते दिखाई देते हैं।[3] इन प्रतिमानों को विकसित करने के लिए उन्होंने संस्कृत के कवि वाल्मीकि और भवभूति को तथा हिन्दी के कवि गोस्वामी तुलसीदास को अपना आदर्श बनाया। उनके प्रतिमानों का उपजीव्य इन कवियों की ही रचनाएँ रही हैं। इन्हीं आधारों पर उन्होंने दरबारी संस्कृति या सामन्ती संस्कृति के विरूद्ध लोक–संस्कृति का प्रति ठापन किया है। लोक–मंगल की प्रतिष्ठा का सिद्धान्त उन्होंने तुलसीदास की रचनाओं के आधार पर ही प्रतिपादित किया है। तुलसीदास के आदर्श नायक श्री राम के प्रति उन दिनों जनता के मन में जो श्रद्धा–भक्ति का भाव था, इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शुक्ल ने टिप्पणी दी है– 'जनता के लोक की रक्षा करनेवाले प्राक तिक धर्म का मनोहर रूप देखा। उसने धर्म को दया, दाक्षिण्य, नम्रता,

सुशीलता, पित भक्ति, सत्यव्रत, उदारता, प्रजा–पालन, क्षमा आदि में ही नहीं देखा, बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि में भी उसे देखा। अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, ससाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन–दुखियों को सताने वालों का जो संहार किया जाता है, कठिन कर्तव्यों के पालन में जो वीरता प्रकट की जाती है, उससे भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है। जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है जिससे समाज चलता है वह यही व्यापक धर्म है।[4]

महाकाव्यों में करूण रस का अधिक महत्त्व होता है। करूणा के विरोधी भाव के रूप में वे क्रोध के साथ उसका सामंजस्य दिखाते हैं। वे व्यक्तिगत क्रोध को तामसी वृत्ति कहकर उस क्रोध का समर्थन करते हैं जो लोक–हित और लोक–रक्षा के लिए किया जाता है। वाल्मीकि के क्रोध में लोक के दुःख का क्षोभ दीखता है। लोकमंगल की प्रतिष्ठा यह सिद्धान्त समीक्षा के क्षेत्र में शुक्ल जी का एक क्रांन्तिकारी सिद्धान्त माना जाता है।

सन् 1950 के आस–पास प्रगतिवादी समीक्षकों का एक ऐसा दल खड़ा हुआ जो किसी–न–किसी बात को लेकर शुक्ल जी के विचारों का विरोध करता था। शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव आदि ऐसे ही व्यक्ति थे। इन समीक्षकों की दृष्टि में शुक्ल जी की आलोचना केवल छात्रों के लिए उपयोगी है, अन्यथा उसमें कुछ भी नहीं है। मगर किसी–न–किसी रूप में ये आलोचक शुक्ल जी के विचारों से प्रभावित दीखते ही हैं।

ध्यान से देखने पर ऐसा लगता है कि परवर्ती आलोचकों – हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी और रामविलास शर्मा की अपेक्षा शुक्ल जी की आलोचना का स्वरूप अधिक शास्त्रीय है। उसकी गंभीरता के कारण उसे जटिल बताना उचित नहीं प्रतीत होता।

आचार्य शुक्ल के साथी नीलकान्त शुक्ल ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना पर जो आक्षेप किया है, उसमें कोई दम नहीं दीखता। शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लेखकों और कवियों पर जो टिप्पणियाँ दी हैं, उनपर कुछ समीक्षकों ने आक्षेप किया है, मगर इस संबंध में मलयज का कथन है– ''आज यह खुले मन से कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल से पहले साहित्य को 'शास्त्र' करके दिखाने वाली आँखे थीं, साहित्य को 'मर्म' कहकर बतानेवाली आँखें नहीं। शुक्ल जी की दृष्टि पुराने और नये तथ्य और भाव, शास्त्र और मन के बीच सिर्फ समन्वय या ताल–मेल की दृष्टि न थी, बल्कि अपने विवेक की तुला पर तोल कर साहित्य और जीवन का एक ऐसा रसायन तैयार करने की थी जो मनुष्य के अर्थ को उसकी तात्कालिकता में भी और उसकी चिरन्तनता में भी दूर तक प्रकाशित कर दें। साहित्य में अभिव्यक्त जीवन के अर्थ की सिर्फ व्याख्या नहीं, उसके मूल उत्सों की खोज और पड़ताल उस विवेक की कसौटी है, जिसे संभव बनाकर आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार वास्तविक आलोचना–कर्म को संभव बनाया।''[5]

शुक्ल जी के विचारात्मक निबंधों में उनका समीक्षक रूप बड़ा ही प्रौढ़ दीखता है। 'कविता क्या है?' 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति–वैचित्र्यवाद', रसात्मक भाव–बोध के विभिन्न रूप आदि ऐसे ही निबंध ा हैं। वे काव्य में अर्थग्रहण से आगे जाकर बिम्ब–ग्रहण की आवश्यकता पर बल देते हैं। शुक्लजी ने तुलसीदास, कबीरदास, जायसी, सूरदास आदि पर भी समीक्षाएँ लिखी हैं। तुलसी के 'रामचरित मानस' सूर के 'सूरसागर' और जायसी के 'पद्मावत' की समीक्षा में उन्होंने बड़ी ही सघनता और संश्लिष्टता का परिचय दिया है।

तुलसीदास का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उनमें सर्वांगपूर्ण काव्य–कुशलता है। 'उसकी साहित्य–मर्मज्ञता, भावुकता और गंभीरता के सम्बन्ध में इतना और जान लेना भी आवश्यक है कि उन्होंने रचना–नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन नहीं किया है और न शब्द–चमत्कार आदि के खेलवाड़ों में वे फँसे हैं। अलंकारों की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक ढंग से की है कि वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाये जाते हैं, अपनी अलम चमक–दमक दिखाते हुए नहीं। कहीं–कहीं लम्बे सांगरूपक बांधने में अवश्य उन्होंने एक भद्दी परम्परा का अनुसरण किया है। 'दोहावली' के कुछ दोहों के अतिरिक्त और सर्वत्र भाषा का प्रयोग, उन्होंने भावों और विचारों को स्पष्ट रूप में रखने के लिए किया है, कारीगरी दिखाने के लिए नहीं। उनकी–सी भाषा की सफाई और किसी कवि में नहीं।'[6]

अपने दूसरे प्रिय कवि जायसी के 'पदमावत' की समीक्षा में भी उनका गंभीर चिंतन और विवेचन देखा जा सकता है। वे 'पद्मावत' के लोक–पक्ष की काफी प्रशंसा करते हैं। तभी तो नागमती एवं उसकी सखियों के क्रीड़ा–लाप का वे अत्यन्त ही जीवन्त और स्वाभाविक वर्णन कर सके हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर नागमती ईश्वर–प्राप्ति के मार्ग की बाधिका है, मगर एक सामान्य नारी के रूप में उसकी जो विरह–वेदना है, उस पर शुक्ल जी अत्यन्त भावुक दिखाई पड़ते हैं। उसकी उस वेदना पर टिप्पणी करते हुए शुक्ल जी का कथन है– 'जायसी के भावुक हृदय ने स्वकीया के पुनीत प्रेम के सौन्दर्य को पहचाना। नागमती का प्रयोग हिन्दी साहित्य में विप्रलंभ श्रृंगार का अत्यन्त उत्क भट निरूपण है।''[7]

शुक्ल के तीसरे प्रिय कवि हैं 'सूरदास' जिन पर उन्होंने स्वतंत्र रूप से लिखा है। 'सूरदास' पुस्तक पर भी कुछ लोगों ने आपत्ति जताते हुए कहा कि सूरदास जी की भक्ति के आवेश को 'रसदशा' कहना केवल अपने पक्ष का समर्थन करना है। मगर यह आपत्ति व्यर्थ है क्योंकि रहस्यादर्श के 'दर्शन' और भक्ति की तल्लीनता में कोई अन्तर नहीं है।[8]

शुक्ल की दृष्टि में सूर वात्सल्य और श्रृंगार के अप्रतिम कवि है। ''यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य–क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न

दशाओं का समावेश हो, पर जिस परिमित पुण्य भूमि में उनकी वाणी ने संरचण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक उनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक किसी और कवि की नहीं। इन दोनों में तो इस महाकवि ने मानों औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदास ने 'गीतावली' में बाल–लीला को इनकी देखा–देखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही, पर उसमें बाल–सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप–वर्णन की ही प्रचुरता रही। बाल–चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं।''[9]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखित 'हिन्दी का इतिहास' आलोचना–ग्रन्थ न होते हए भी उनकी आलोचनात्मक दृष्टिकोण को समझाने के लिए बड़ा अधिक महत्त्व रखता है। इसमें विभिन्न कवियों और लेखकों तथा उनकी कृतियों पर जो समीक्षात्मक टिप्पणियाँ लिखी गयी हैं, वे अत्यन्त ही उपयोगी हैं। इस इतिहास–ग्रन्थ में काल–विभाजन, उनके नामकरण उनकी प्रवृत्तियों आदि पर शुक्ल जी ने अपने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनमें व्यावहारिक समीक्षात्मक दृष्टि देखी जा सकती है।

शुक्लजी को मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर पाण्डेय आदि द्वारा प्रवर्तित स्वच्छ नवीन धारा में ही छायावाद का आभास मिलने लगा था। बाद में प्रसाद, पंत, निराला महादेवी आदि की रचनाओं में छायावाद का पूर्ण रूप उन्हें दिखाई पड़ा और उसकी भी आलोचनाएँ उन्होंने लिखी हैं। शिव कुमार मिश्र के शब्दों में, 'वे छायावादी सर्जना को लेकर पूर्वग्रहग्रस्त नहीं हैं। वस्तुतः शुक्ल जी में छायावादी कवियो ंकी जिस सर्जना की इस कारण दाद देते हैं कि वह छायावाद के सीमित घेरे के बाहर की सर्जना है, असलियत यह है कि वह सर्जना भी छायावाद के भीतर की ही सर्जना है। फर्क यही है कि शुक्ल जी छायावाद को उसके समूचेपन में नहीं देख पाये, इसी कारण उनके कतिपय निष्कर्ष विवादास्पद बन गये, अन्यथा उनकी काव्य–सर्वज्ञता छायावाद के संवेदनात्मक पक्ष को पकड़ने और व्याख्यायित करने में पूरी तरह सफल रही है।[10]

प्रेमचन्द ने गद्य–साहित्य की समीक्षा में भी अपनी अद्‌भूत प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। शुक्ल जी के पूर्ववर्ती और समकालीन कुछ समीक्षकों की धारणा रही है कि उपन्यास युवा वर्ग के लोगों पर बुरा प्रभाव डालता है, मगर प्रेमचन्द ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार उपन्यास ऐसा लिखा जाना चाहिए जिसका अच्छा प्रभाव युवा वर्ग पर पड़ सके। तभी तो शुक्ल जी ने प्रेमचन्द के अनेक उपन्यासों की प्रशंसा की है। ऐतिहासिक उपन्यासों के बारे में उनका कहना है कि उसके वास्तविक पात्र ही नहीं, काल्पनिक पात्र भी युग का चित्र खड़ा करने में बड़े ही सहायक होते हैं। 'बिना इन बातों का जोड़ लगाये ऐतिहासिक वृत्त स्वाभाविक मानव–व्यापार समझ ही नहीं पड़ते। ऐतिहासिक उपन्यासों के बीच जो पात्र और व्यापार ऊपर से लाये जाते हैं वे उस समय की सामाजिक स्थिति के सर्वथा अनुकूल हों तो उन्हें ठीक मान लेना कोई बड़ी भारी भूल नहीं है क्योंकि

उनके अनुमान करने का साधन तो हमारे पास है, पर खण्डन करने का एक भी नहीं।''[11] वे किशोरीलाल गोस्वामी के 'चपला' उपन्यास की भर्त्सना इसलिए करते हैं कि वह उपन्यास युवकों में उत्तेजना का भाव भर देता है, मगर वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़कुण्डार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' की प्रशंसा इसलिए करते हैं कि इन दोनों ही उपन्यासों में जन–जीवन के लिए अनेक उपयोगी तत्वों के समावेश हुए हैं। इसी प्रकार बालकृ ण भट्ट के 'नूतन बह्मचारी' तथा 'सौ अजान एक सुजान' की एवं रामकृ ण दास के 'परीक्षागुरू' की भी इसलिए सराहना करते हैं क्योंकि इन उपन्यासों में आदर्श की बाते हैं। घटना वैचित्र्य और कल्पना–वैविध्य से युक्त देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों को वे साहित्यिक कोटि में नहीं रखते क्योंकि 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकान्ता सन्तति' में उन्हें रस–संचार, भाव–विभूति और चरित्र–चित्रण का अभाव खटकता है। फिर भी उसके महत्व पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है– 'पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनन्दन खत्री का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये उतने किसी और ग्रन्थकार ने नहीं।

इसी प्रकार प्रसाद, कौशिक, चंडी प्र. हृदयेश, प्रताप नारायण श्रीवास्तव, जैनेन्द्र, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह आदि के उपन्यासों पर भी शुक्ल जी ने समीक्षात्मक टिप्पणियाँ लिखी हैं।

'शुक्लजी ने कहानियों पर भी विचार किया है। ऐसा करने के क्रम में वे अपने परवर्ती आलोचकों और लेखकों की तुलना में अधिक सजग दिखाई देते हैं। एक संभावनाशील विधा के रूप में वे कहानी के महत्त्व और विकास को रेखांकित करते हैं और रचनात्मक स्तर पर स्वयं उससे जुड़ते भी हैं। हिन्दी कहानी का विकास उन्हें पर्याप्त आश्वस्त करता है और उसी के आधार पर वे उसके लिए

स्वतंत्र सिद्धान्त स्थिर करने और उसके भेद उपभेद निरूपित करने का प्रस्ताव रखते हैं।'[12] हिन्दी कहानी का विकास वे द्वितीय उत्थान में मानते हैं जिसमें प्रेमचन्द एवं अन्य कहानीकारों ने कहानियाँ लिखीं।

उपरिलिखित तथ्यों से विदित होता है कि 'शुक्लजी ने समीक्षा–सिद्धान्त साहित्यिक रचनाओं के आधार पर स्थापित किया है। अतः उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा में संगति है। वे जहाँ सिद्धान्त–प्रतिपादन में प्रवृत्त होते हैं, वही प्रचुर उदाहरण और उद्धरण देकर अपने कथन को प्रमाणित कर देते हैं। उनके सिद्धान्त ऊपर से थोपे हुए नहीं है, बल्कि साहित्य के रसास्वादन के माध्यम से प्राप्त किए हुए निष्कर्ष हैं। वे व्यवहार के सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। साहित्य का पारायण करके निगमनात्मक पद्धति से जो सूत्र उन्होंने खोज निकाले हैं, वे ही उनके समीक्षा–सिद्धान्त हैं। रचना में डूबकर विवेकपूर्ण निष्कर्ष निकालना ही आधुनिक और वैज्ञानिक पद्धति है। इस दृष्टि से शुक्ल जी आधुनिक और वैज्ञानिक समीक्षक हैं। पूर्व और पश्चिम के प्राचीन काव्य–चिन्तकों की मान्यताओं से शुक्ल जी ने अपना जो मतभेद प्रकट किया है, वह रचनाओं के आधार पर ही।'[13]

शुक्ल जी ने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का गहन अध्ययन किया था और उनकी चिन्तन–शक्ति भी काफी विवेकपूर्ण थी। हिन्दी में पहली बार उन्होंने रस–विवेचन को मनोवैज्ञानिक आधार दिया। रस–सिद्धान्त के विवेचन में उन्होंने पूर्णतः मौलिकता का परिचय दिया है। इतना ही नहीं, 'क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का तुलनात्मक विवेचन कर अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का 'विलायती उत्थान' मानना भी उनके अध्याय की गहराई का परिचायक है। हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना को परिचय और सामान्य विवेचन के धरातल से उपर उठाकर गंभीर स्वरूप प्रदान करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है।'[14]

अतः यह स्पष्ट है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा अत्यन्त ही सुलझी हुई तो है ही, वैज्ञानिक भी है।

संदर्भ सूची –

1 खगेन्द्र ठाकुर–उत्तरशती, आचार्य शुक्ल–विशेषांक, अक्तूबर–दिसंबर 1984, पृ0 सं0 48
2 वही, पृ0 सं0 51
3 मधुरेश– हिन्दी आलोचना का विकास, द्वि0 सं0, सुमित प्रकाशन, गोविन्दपुर, इलाहाबाद, पृ 0 सं0 48
4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–गोस्वामी तुलसीदास संस्करण 1970, पृ0 सं0 20
5 मलयज – रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 सं0 23
6 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, संस्करण 1965, पृ0 सं0 141
7 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – जायसी ग्रंथावली, पृ0 सं0 34
8 सं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – सूरदास, संस्करण 1969, पृ0 सं0 2
9 वही, पृ0 सं0 96
10 साक्षात्कार, आचार्य शुक्ल जन्मशती अंक, अगस्त–नवम्बर 84, पृ0 सं0 109
11 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – चिन्तामणि, 3 पृ0 सं0 103
12 वही, पृ0 सं0 104
13 विश्वनाथ त्रिपाठी – हिन्दी आलोचना, ग्यारहवीं आवृत्ति 2009, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 67
14 सं0 डॉ0 नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास, 33 वाँ संस्करण 2007, मयुर पेपर बैक्स, नौएडा, पृ0 सं0 589–90

■

साहित्य विमर्श

धूमिल के काव्य में प्रगतिशील चेतना के तत्व

गौरव कुमार *

कविता मानवीय इतिहास की सबसे सुंदर कृति है और जब बात प्रगतिशील काव्य एवं काव्यधारा की हो तो वह अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ स्वयं साहित्येतिहास की परंपरा में स्थापित करती हैं। यह दौर अत्यंत व्याघातों, असंतोष, भूख, गरीबी, अशिक्षा, शोषण, विषमताओं आदि प्रवृतियों से अनुप्राणित था। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना तथा स्वतंत्रता संघर्ष में साहित्यकारों का हस्तक्षेप एक नए युग का आरंभ तो कर ही रहा था साथ ही समाज के उपेक्षित वर्ग को केंद्र में ला रहा था जो अब तक हाशिए पर था। धूमिल, केदारनाथ सिंह, अरुण कमल, राजेश जोशी, आलोक धन्वा आदि प्रगतिशील कवियों ने प्रगतिशील काव्यधारा की जमीन को ठोस बनाया। शोषण के विरुद्ध क्रांति, अन्याय के खिलाफ प्रतिकार, पूंजीवादी अथवा सामंती व्यवस्था का खात्मा, नए सौंदर्यबोध की तलाश तथा सामान्य जनजीवन को विशिष्टता की दृष्टि से देखना न सिर्फ प्रगतिशील काव्यधारा की बल्कि प्रगतिशील कवियों की भी विशेषता हैं। प्रगतिशील कवियों का उद्देश्य भेदरहित समतामूलक समाज की परिकल्पना को केंद्र में रखना है। अतः प्रत्येक युग का साहित्य अपने युग के प्रगतिशील विचारों द्वारा किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित होता है।

हिन्दी में प्रगतिशील कविता का आविर्भाव १९३५–३६ के आसपास हुआ। १९३५ में फ्रांस में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। इसी वर्ष लंदन में मुल्कराज आनंद और सज्जाद जहीर के प्रयास से 'भारतीय प्रगतिशील लेखक' संघ की स्थापना हुई जिसका पहला अधिवेशन १९३६ में प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में हुआ। अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद ने व्यक्तिवादी सौन्दर्य चेतना और काल्पनिक दुनिया से निकलकर नए जीवन यथार्थ को साहित्य में अभिव्यक्त करने की गुजारिश की। स्वयं छायावाद का घोषणा पत्र लिखने वाले सुमित्रानंदन पंत ने १९३६ में 'युगांत' की घोषणा की। निराला ने १९३७ में 'तोड़ती पत्थर' में यथार्थ का दर्शन किया। इस तरह छायावादी कवि ही प्रगतिशील कविता के अग्रदूत रहे। प्रगतिशील काव्यधारा की पृष्ठभूमि के रूप में हम देखते हैं कि रोमांटिक साहित्य का जन्म जिस तरह फ्रांस की क्रांति से हुआ उसी तरह रूसी

*** लेखक पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय में शोध छात्र हैं। संपकः 1031,काउस घाट रो, के. शिवपुर, हावड़ा–711102 (प. बंगाल), मो. 9330971495**

क्रांति की सफलता के गर्भ से प्रगतिशील साहित्य का जन्म हुआ। कविता में प्रगतिशीलता तो आरंभ से ही रही हैं परंतु जिस रूढ़ अर्थ में प्रगतिशील शब्द का प्रयोग होता हैं उसका जन्म १९१७ की रूसी क्रांति से माना जाता हैं। रूसी क्रांति की सफलता के बाद समाज और साहित्य में सर्वहारा वर्ग की मुक्ति की किरण दिखाई देने लगी।

यदि हम प्रगतिशील शब्द का समानार्थी शब्द प्रगतिवाद पर विचार करें तो प्रगतिशील और प्रगतिवाद को लेकर एक विवाद की स्थिति बनी रही हैं। कई बार पाठक भी इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि उस खास समयावधि कि कविता को क्या कहें–प्रगतिशील कविता या प्रगतिवादी कविता? प्रगति तो दोनों में है पर शील और वाद को लेकर भेद हैं। कुछ विचारक मानते हैं कि प्रगतिशील और प्रगतिवाद में भेद हैं। उनके अनुसार प्रगतिवाद का साहित्य पूर्णतः मार्क्स के सिद्धांत 'द्वंदात्मक भौतिकवाद' को आधार बनाकर कविता लेखन करता है। कवि संघ या कम्यूनिस्ट पार्टी से सीधे जुड़ा होता है या उसके निर्देशन में रचना कर रहा होता है जबकि प्रगतिशील कविता मार्क्सवादी विचारधारा, गांधीवादी विचार धारा, अरविंद दर्शन आदि को दार्शनिक आधार के रूप में ग्रहण करती है अर्थात् कोई भी विचार जो समाज की प्रगति में सहायक होता है प्रगतिशील कहा जा सकता हैं जबकि प्रगतिवाद का अर्थ विशुद्ध मार्क्सवादी विचारों से लिया जाता है। प्रगतिशील और प्रगतिवाद का यह कृत्रिम भेद प्रगतिवाद को संकीर्ण और संकुचित रूप में देखता है जबकि प्रगतिशील कविता को व्यापक एवं उदार रूप में देखता है परंतु जहां तक आलोचक नामवर सिंह की बात है इन्होंने इस भेद को अस्वीकार कर दिया और स्पष्ट कह दिया "जिस तरह छायावादी कविता और छायावाद भिन्न नहीं है उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भिन्न नहीं है। वाद की अपेक्षा शील को अधिक अच्छा और उदार समझकर इन दो में भेद करना कोरा बुद्धि–विलास है।"(१)

हिन्दी साहित्य के साठ के दशक के कवि सुदामा पांडे धूमिल भी इसी प्रगतिशील चेतना के कवि है और प्रगतिशील विचारधारा की वैचारिक बुनियाद पर ही वह अपनी कविताएं निर्मित करते हैं ।

धूमिल हिन्दी कविता के प्रमुख, प्रखर एवं क्रांतिदर्शी हस्ताक्षर हैं जिन्होंने मनुष्यता के लिए निरंतर संघर्षरत रहकर तत्कालीन अंतर्विरोधों, अंतर्द्वंद्वों और असंगतियों को वाणी दी। उनकी कविता केवल छपी हुई पंक्तियाँ नहीं बल्कि उनका जीवन हैं जिसे उन्होंने जिया। साठोत्तरी कविता में स्वातंत्रोत्तर भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की भरपूर अभिव्यक्ति मिलती है। युगीन कविता की दिशाहीन और ओढ़ी हुई सच्चाई के भ्रमपूर्ण जंजालों को छिन्न–भिन्न करती धूमिल की कविता प्रगतिशील संघर्ष चेतना को नया जमा पहनाए हैं। युगीन पीड़ा और उसकी अभिव्यक्ति की अनिवार्यता को तीव्रता से महसूस करते हुए धूमिल ने अपने आक्रामक रुख द्वारा अपने समय की युवा पीढ़ी को झकझोर कर जागा दिया हैवाद विशेष के बंधन से मुक्त उनका कथ्य और चिंतन यथार्थ के व्यापक आयामों के उन्मुक्त आकाश में खालिस कविता से

पाठकों को रू ब रू कराता है। शोषणकारी व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष करती उनकी कविता सर्वहारा वर्ग के ध्वस्त स्वप्नों एवं शुष्क आकांक्षाओं को रूपायित करती है। अतः कहा जा सकता है कि सामाजिक सरोकार और उससे उत्पन्न संवेदनात्मक सोच का प्रतिफलन है धूमिल का समस्त काव्य संसार ।दरअसल धूमिल की कविता में समाज में फैली अव्यवस्था का पर्दाफाश तथा राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक एवं प्रणयगत कुरूपताओं का यथार्थ चित्र सामने आये हैं। आधुनिक कविता में भारतेन्दु हरिश्चंद्र को छोड़ दे तो धूमिल से पहले किसी भी कवि ने अपनी कविता में इतना भयानक, कुरूप और विद्रूप परिस्थितियों और चरित्रों को शायद ही जगह दी है। वस्तुतः धूमिल कबीर, भारतेन्दु, निराला, मुक्तिबोध की परंपरा में आने वाले कवि हैं या उनकी अगली आवाज के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं।

वर्षों तक अनवरत संघर्ष से मिली आजादी के बाद जनता ने शासन व्यवस्था से यह तो उम्मीद की ही थी कि वह आम आदमी को रोटी–कपड़ा–मकान जैसी बुनियादी आवश्यकताएं आसानी से उपलब्ध करा सकेंगी तथा बेकारी दूर हो जाएगी एवं सब को शिक्षा और रोजगार मिलेंगे परंतु स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। पंचवर्षीय योजनाएं, हरित क्रांति, पंचशील के सिद्धांत, नेहरू का समाजवाद सब के सब नाकाम रहे और समाज में व्यक्ति की दशा दुर्दशा में बदलती जा रही थी। ऐसे समय में कवि धूमिल की वाणी खुद ब खुद आक्रोश युक्त होने लगी। स्वातंत्रोत्तर भारत की विसंगत स्थिति को संवेदनशील धूमिल अपनी कविताओं में पूरी ताकत से व्यक्त करते हैं। मूल्यहीनता के इस बदलते दौर में जब जनतंत्र, प्रजातंत्र, आजादी जैसे शब्द अपना अर्थ ही खो बैठते हैं तब हर नागरिक को यह सोचना ही चाहिए कि "क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है। जिन्हें एक पहिया ढोता है, या इसका कोई खास मतलब होता है ?"(३) और इस मतलब की तलाश में वे देश के हर हिस्से को देखते और टटोलते हैं और अंततः वे कहते है।" उस मुहावरे को समझ गया हूँ, जो आजादी और गांधी के नाम पर चल रहा है, जिससे न भूख मिट रही है न मौसम बदल रहा है "(४)

कवि धूमिल ने सामाजिक यथार्थ का बेबाक चित्रण किया है शहर और गाँव दोनों पर विमर्श करते हुए वे उनकी अलग–अलग विसंगतियों को एक साथ चित्रित करते है शहर और गाँव दोनों से जुड़े रहने के बावजूद ग्राम–चेतना उनमें प्रधान थी। उन्होंने ने समकालीन राजनीति और व्यवस्था के भ्रष्टाचार और खोखलेपन को उभारने के लिए व्यंग्य का सहारा लिया। धूमिल ने तथाकथित अवसरवादी बुद्धिजीवियों पर, शोषण को स्वीकार करती हुई जनता पर, स्त्रियों पर भी व्यंग्योक्तियाँ लिखी हैं। गाँव से वे स्वयं निर्मित थे और गाँव में वे स्वयं सबके लिए उपस्थित थे गाँव की पास–पड़ोस की राजनीति में गहराई से शामिल होने के कारण ही उनके ऊपर मरणोपरांत तक कई मुकदमें चल रहे थे। धूमिल अपने गाँव में जितना कवि रूप में नहीं विख्यात थे उससे अधिक गाँव वासियों के हमदर्द और सामाजिक सक्रियता के लिए विख्यात थे। धूमिल गाँव के लोगों की समस्त पीड़ा को सहभागी अपने जीवन के अंतिम काल तक थेइसी जुड़ाव

के कारण वह भारत सरकार की 'हरित क्रांति' जैसी नीतियों की भ्रमात्मकता को भी अपनी कविता में व्यंग्यात्मक रूप से प्रकट कर पाये" मैंने जोर से कहा–हरित और धीरे से कहा–क्रांति नन्ही चिड़ियाँ नहीं जानती एक समकालीन शब्द धीरे से कहने पर पेट में कितने चाकू उतरते हैं। " (५)

धूमिल विरोध के कवि अवश्य हैलेकिन परंपरा को सर्वथा अस्वीकार नहीं करते। उन्होंने साहित्यिक परंपरा की उपलब्धियों को आत्मसात करके ही नवीन एवं प्रगतिशील साहित्य की रचना को संभव माना हैक्योंकि कोई भी विचार सर्वथा नवीन नहीं होता पुराने के संदर्भ में नए का अर्थ है। १९६३ में तुलसी जयंती के अवसर पर आयोजित एक गोष्ठी में पढ़े गए निबंध ' तुलसी और आधुनिक लेखकों की समस्याए 'में उन्होंनेरामकथाको सामने रखकर ही समकालीन साहित्य को निरखा–परखा। धूमिल की काव्य–दृष्टि नई कविता और साठोत्तरी काव्यान्दोलनों के बीच बनती और संवरती हैंजिसे यथार्थ के गतिशील पक्षों ने युगीन और अर्थगर्भ बनाया। मूलतः धूमिल सपनों के कवि नहीं अपितुयथार्थ के कवि हैं लेकिन उनका यथार्थ किसी निश्चित वाद या विचारधारा के फ्रेम में काम नहीं करता। वह हर फ्रेम को तोड़कर आगे बढ़ने वाले जनतांत्रिक चेतना के कवि हैं वे एक ऐसे कवि है जिन्होंने गोर्की, मार्क्स, लेनिन, टेगोर, गांधी, लोहिया, प्रभृति चिंतकों का गंभीर अध्ययन किया हो लेकिन किसी सिद्धांत को बिना कट्टरता पूर्वक अपनाए उन तमाम विचार–प्रणालियों को आत्मसात करते हुए जिनसे कोई एक देश और समाज निर्मित होता है उसकी अपनी नई राह तैयार करते हुए वे आगे बढ़ते है। कहना न होगा कि धूमिल की कविता कदम दर कदम यथार्थ से मुठभेड़ करती हुई आगे बढ़ी है। हिन्दी काव्य क्षेत्र में वे एक 'साधारण व्यक्ति 'के अनुभव लेकर आते हैलेकिन उस अनुभव में अपना तिगुना–चौगुना आवेग और विक्षोभ डालकर उसे 'असाधारण' अभिव्यक्तिमें बदल देते है उनके लेखन के केंद्र में वह आम जनता हैं जो देश की सामाजिक सांस्कृतिक रीढ़ है इसलिए उनके भाव, मुहावरे, बिम्ब, प्रतीक सब उसी से चलकर आते है उनकी इसी विशेषता के कारण 'काशीनाथ' ने उन्हें 'मानवीय लेखक' के रूप में रेखांकित किया ।

वास्तव में धूमिल की कविता में भारतीय समाज की जिस सच्चाई को अभिव्यक्ति मिली हैं वो 'सुपरफिशिअल' सच नहीं हैं कठोर वास्तविकता है उनके सामने वही चिर परिचित मूल्यहीनता का अंधकार था जिससे निराला, मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती भी अपने–अपने ढंग से जूझते रहे। निराला के राम को जहां वह 'दैवी विधान' समझ नहीं आता जिसमें अधर्मी रावण को देवी–देवता का साथ मिलता है वहीं मुक्तिबोध को अपने सामने 'अंधकार का स्तूप' दिखता है और धर्मवीर के यहाँ हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता हैं। सच तो यह हैं कि नित्यप्रति सघन होते जा रहे इस अंधकार के पीछे राजनीतिक हिंसा, भ्रष्टाचार, अंधसत्तावाद और जनविरोधी नीतियाँ ही रही हैं। वास्तव में पूर्वग्रह से मुक्त होकर ही धूमिल के विचारों तक पहुंचा जा सकता हैं उनकी कविता कभी जनता को उसके दुश्मनों से आगाह करते हुए उनमें संघर्ष की चेतना का प्रसार करती है कभी देश की दुर्दशा को प्रकट करती हैतो कभी खुद को देशभक्त बताने वाली नेताओं

की स्वार्थपरता को उजागर करती है। कुल मिलाकर भारतीय समाज और उसके निवासियों को विषमताओं से मुक्त कराना तथा उन्हें सही दिशा देना ही उनकी कविता का मूल उद्देश्य रहा है। धूमिल अराजनीतिक मंच पर खड़े होकर समकालीन राजनीति की अराष्ट्रीयता और अप्रगतिशीलता के विरुद्ध कविता लिखते रहे है। 'कविता' धूमिल के लिए सिर्फ एक साहित्यिक विधा नहीं थी बल्कि कविता उनकी जुबान थी जिसके माध्यम से वे समाज पर चोट करते समाज की विद्रूपताओं को कविता के ढाल से रोकते है आत्मभिव्यक्ति और समाज का विश्लेषण करते है। धूमिल के शब्दों में "अकेले कवि कठघरा होता है इससे पहले कि वह तुम्हें सिलसिले से काटकर अलग कर दे कविता पर बहस शुरु करो और शहर को अपनी ओर झुका लो।"(६) यहा वह सत्ताधारी व्यक्ति है। ''जो आदमी के भेस में–''शातिर दरिंदा है'' जो हाथों और पैरों से पंगु हो चुका है, मगर नाखून में जिंदा है।"(७) समाज को अपनी ओर झुका लेना समाज की चलती गति को परिवर्तित करना है क्योंकि यह गति शोषण और दमन चक्र द्वारा चालित है और इसे बदलना कवि धूमिल की सबसे बड़ी आकांक्षा व उद्देश्य है ऐसी स्थिति न बन पाने के कारण ही।" कविता घेराव में किसी बौखलाए हुए आदमी का संक्षिप्त एकालाप।"(८) बन जाती है और तब कविता को साजिश के तहत समाज से काटकर उसकी संप्रेषणीयता को नष्ट कर देने के लिए ऐसे शब्दों को भर दिया जाता है जिसका "अब वहाँ कोई अर्थ खोजना व्यर्थ है, पेशेवर भाषा के तस्कर–संकेतों और 'बैलमूत्ती इबारतों' में अर्थ खोजना व्यर्थ है।"(६) ऐसी कविताएं जनसाधारण से कटी हुई और उसके लिए निरर्थक हो जाती है ऐसे समय में धूमिल समाज को वापस सजग करते है और कहते है।" वक्त बहुत कम है क्योंकि असली अपराधी का नाम लेने के लिए कविता सिर्फ उतनी देर तक सुरक्षित है, जितनी देरकीमा होने से पहल कसाई के ठीहे और तनी हुई गड़ास के बीच बोटी सुरक्षित है।" (१०) समाज में इन खूंखार दरिंदों के बीच इसलिए ''कविता–भाषा में आदमी होने की तमीज है।"(११) कुल मिलाकर कहा जाए तो धूमिल सब बुराइयों के विपक्ष में सिर्फ कविता को मानते है उनकी कविताओं में मार्क्सवादी–प्रगतिशील कवियों की तरह व्यक्तित्व का निषेध नहीं है जो धूमिल को शुष्क मार्क्सवादी कवि होने से बचाता है।

डॉ. नन्दकिशोर नवल के शब्दों में कहें तो ''यह बात प्रगतिशील कवियों में केदार–नागार्जुन की अपेक्षा उन्हें मुक्तिबोध के निकट ले जाती है जिनमें रचना में व्यक्तित्व का निषेध नहीं उसके विनियोग का आग्रह था।"(१२)

उनकी कविताओं में मुक्तिबोध की कविताओं की ही तरह द्वंदग्रस्त अंतर्विरोध और वर्ग प्रतिबद्धता नजर आती है। अपनी प्रसिद्ध कविता 'पटकथा' में काव्य नायक के 'मैं' का साक्षात्कार अपने ही हमशकल से होना मुक्तिबोध के 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' मे रक्तालोकस्नात पुरूष का अपने ही दूसरे रूप से मिलने जैसा है। वहीं 'नक्सललबाड़ी' कविता में धूमिल स्वातंत्रोंत्तर भारत की उस निराशाजनक परिस्थिति का चित्रण किया है ''जिसने नक्सलपंथी आंदोलन को जन्म दिया है उनका प्रिय शब्द जंगल इस कविता में संसद के लिए ही प्रयुक्त हुआ है" और एक

जंगल है मतदान के बाद खून में अंधेरा पछींटता हुआ।"(१३) समकालीनता धूमिल के लिए बहुत महत्वपूर्ण थी। समकालीन होना समकालीन रूप रस–गंध से वाकिफ होना था और धूमिल सचेत समकालीन कवि होने के नाते समाज की हर समस्या को अपने काव्य में स्थान देते थे ।

धूमिल की काव्य भाषा की बात की जाए तो उनकी कविता तत्समता से रहित, तद् भवता और देशजता से युक्त है जिसकी मुख्य मुद्रा तीखी आलोचनात्मक है। अपनी कविता को वे भारी–भरकम शब्दों से नहीं लादते बल्कि अपने आस–पास की लोकप्रचलित पदावली को ही कविता में पिरोते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता हैं कि उनकी काव्य भाषा परंपरागत शिल्प–प्रविधि से विहीन–बोलचाल की भाषा पर आधारित हैं जो कविता को नई अर्थवत्ता प्रदान करती हैं। तुलसी ने भी राम के चरित्र को जन–जन तक पहुचाने के लिए लोक व्यवहार की भाषा को ही चुना था। धूमिल ने माना कि कविता के लिए सही शब्दों की तलाश आवश्यक हैं जो कि यथार्थ को पूर्णता में अभिव्यक्त कर सके। इस संदर्भ में उनका पहला कदम कविता को 'भाषाहीन' करना है साथ ही अनावश्यक बिम्बों, प्रतीकों से भी उसे मुक्त करना है। आज महत्व शिल्प का नहीं कथ्य का है सवाल यह नहीं कि आपने किस तरह कहा है सवाल यह है कि आप ने क्या कहा है। अपने इस प्रयास में उन्होंने अनेक तरीके अपनाए जिसमें गद्यात्मक भाषा, सपाटबयानी और अश्लीलता को छूते हुए कविता के प्रांगण में च्युत शब्दों के प्रयोग शामिल हैं।

डॉ. हुकुमचन्द राजपाल धूमिल की काव्य भाषा पर सपाटबयानी के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते है कि" सपाटबयानी अथवा साठोत्तरीकविता में शब्दों को खोलकर रखने से प्रतीकों और बिम्बों के प्रयोग को लेकर किसी प्रकार की भ्रांति नहीं होनी चाहिए। प्रायः धूमिल को वक्तव्यों के आधार पर सपाटबयानी का कवि स्वीकार किया जाता है कि उसकी कविताओं में प्रतीकों तथा बिम्बों का प्रयोग नहीं हुआ है। हम इस प्रकार के विचारों से सहमत नहीं है समकालीन कवियों में धूमिल का स्थान अग्रणी कवियों में इसलिए प्रतिष्ठित है क्योंकि वह भाषा को अपने अनुरूप चलाता है।"(१४) समकालीन कवियों के भाषा प्रयोग में जितनी सफलता धूमिल को मिली है उतनी अन्य किसी को नहीं। डॉ हुकुमचंद राजपाल उन्हें 'शब्दों का जादूगर' कवि मानते हैं।

धूमिल ने अपनी कविता में उन सभी शब्दों का प्रयोग किया है जिन्हें पहले कविता के योग्य नहीं समझा गया उन्होंने देशी–विदेशी गाँव–शहर के सभी शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है। वे इस सत्य को स्वीकार करते है कि ग्रामीण शब्दों में सम्प्रेषण की अद्भुत क्षमता है ।

धूमिल शब्दों की उपयोगिता के कवि थे। भाषा में भदेसपन की शुरुआत हिन्दी में धूमिल के पूर्ववर्ती काव्य में ही शुरू हो चुकी थी। यह भदेसपन मोहभंग की तीव्र प्रतिक्रिया का उत्स थाजो अस्वाभाविक नहीं था यथास्थिति को तोड़ने के लिए तीव्र नकार भी एक प्रक्रिया है। धूमिल के लिए" भाषा का अर्थ है जीने

की पद्धति और जीने का ढंग। भाषा यानी जनतंत्र की भाषा, जनतांत्रिक अधिकारों की भाषा, आजादी और सुखी जिंदगी के हक की भाषा।"(१५)

यदि धूमिल के काव्य को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अवलोकन करे तो उनकी कविताएं एक नया ही काव्यशास्त्र रचने का आग्रह लिए हुए हैं उनका लहजा तो अलग है ही हैंसौन्दर्य विधान भी अलग हैं।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि धूमिल का काव्य कई चेतनाओं एवं वैचारिक संघर्षों से जुड़कर एक अखंडित काव्य के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होता हैं जो कई आयामों को स्पर्श कर समाज की बेहतरी के लिए आगे बढ़ा। हमें इसमें आशा व संघर्ष दोनों कीप्रेरणा मिलती है। वस्तुतः धूमिल का रचना संसार अनेक आयामों को स्पर्श करता हैं जिसके मूल में प्रगतिशील विचारधारा निहित है।

संदर्भ सूचीः

१. आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ – नामवर सिंह
लोकभारती प्रकाशन– दिल्ली (संस्करण–२०२१)
पृष्ठ–५१

२. धूमिल समग्र (खंड–१) (पहला संस्करण–२०२१)
संकलन–सम्पादन– रत्नशंकर पाण्डेय
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,पृष्ठ– ४७.

३. वही पृष्ठ–५१

४. वही पृष्ठ–२३०

५. वही पृष्ठ–६६

६. वही पृष्ठ– १०२

७. वही पृष्ठ– ४६

८. वही पृष्ठ–४५

९. वही पृष्ठ– पृष्ठ–१०३

१०. वही पृष्ठ– १०२

११. समकालीन काव्य यात्रा– नन्दकिशोर नवल(संस्करण–२००४)
राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली,पृष्ठ–२६७

१२. धूमिल समग्र(खंड–१) (पहला संस्करण–२०२१)
संकलन–सम्पादन– रत्नशंकर पाण्डेय
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–६१

१३. समकालीन बोध और धूमिल का काव्यरू–डॉ. हुकुमचंद राजपाल
(प्रथम संस्करण–२०१२) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
पृष्ठ –१८६

१४. अपना मोर्चा– काशीनाथ सिंह(पहली आवृति–२०१२)
राजकमल प्रकाशन– नई दिल्ली, पृष्ठ–१००

■

साहित्य विमर्श

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया और समकालीन हिंदी उपन्यास

अजीत यादव*

हिन्दी संसार में भूमण्डलीकण पर लगभग तीन दशकों से चर्चा हो रही है और अब इसकी चर्चा हो नहीं रही बल्कि उस यथार्थ को बड़े औपन्यासिक ढाँचे में विन्यस्त और प्रकट करने के लिए प्रयत्न भी होने लगे हैं। भूमण्डलीकण, बाजार और पूँजी आधारित एक जटिल अन्तर्सम्बन्ध एकतंत्रात्मक साम्राज्यवादी संरचना है जो किसी साझे मकसद या स्वप्न के लिए नहीं बल्कि साम्राज्यवादी मंसूबों की पूर्ति के लिए रची गई है। यह एकीकरण और विघटन दोनो प्रकार की घटना है। धर्म, क्षेत्र, भाषा, जाति और राष्ट्रीयता के सहारे विश्व की प्रतिरोधी शक्तियों की एकजुटता को तोड़ने और बाजार एवं पूँजी के एकीकरण को रचने वाला मायावी संसार भूमण्डलीकरण बाजार को एक कर रहा है और मनुष्यों को बाँट रहा है।

आज जिस सन्दर्भ में भूमण्डलीकरण की चर्चा गर्म हुई है, वह अमेरिकी पूँजीवाद, पश्चिमी जनतंत्र वाली प्रणाली के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। वैसे तो इस जादू के पिटारे को खोलते समय इस बात की तथाकथित घोषणा की गयी थी कि इस प्रक्रिया के तहत वैश्विक रूप से असमानता में कमी आएगी। यह संसार में शिक्षा, रोजगार तथा व्यापार को मजबूती प्रदान करेगा और आपसी सहभागिता बनेगी परन्तु वर्तमान परिदृश्य करें तो यह दावा पूर्णतया खोखला और दोहरा चरित्र का निर्माण करने जैसा है। प्रख्यात वैज्ञानिक प्रो० यशपाल भी भूमण्डलीकरण की अपसंस्कृतिकरण से चिन्तित नजर आते हैं। उनका मानना है कि भूमण्डलीकरण का अर्थ यह नहीं है कि यह सब लोगों के लिए बराबर है। इसमें वसुधेव कुटुम्बकम जैसी बात बिल्कुल नहीं है। भूमण्डलीकरण एक सर्वेक्षणकारी प्रक्रिया है। जिसके नियमों का पालन हमें करना पड़ेगा और हम सब को उनके पीछे चलना पड़ेगा। यह ये भी तय करेगी कि हमारी स्थितियाँ कैसी होंगी? उन्हें कैसी होनी चाहिए? आपको उसके अनुसार अनुकूलित किया जाये। भूमण्डलीकरण ने हमारे आर्थिक जगत को प्रभावित करने के साथ ही सामाजिक, सांस्कृतिक राजनितिक व साहित्यिक जगत को भी प्रभावित किया है।

* पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय में शोध छात्र हैं। संपर्क : ग्राम– मईखरगपुर, के उबारपुर, आजमगढ़– 276202(उ. प्र.), मो. 9651788373

हिन्दी साहित्य जगत में लगभग तीन दशकों से भूमण्डलीकरण पर चर्चा हो रही है किन्तु उस यथार्थ को सशक्त प्रभावशाली और मार्मिक रूप में अभिव्यक्ति देने का श्रेय जाता है—'मुझे चाँद चाहिए'— सुरेन्द्र वर्मा, 'आवाँ' — चित्रा मुदगल, 'रेहन पर रग्घू'—काशीनाथ सिंह, 'उधर के लोग' —अजय नावरिया, 'मुन्नी मोबाइल'—'प्रदीप सौरभ' और 'कितने पाकिस्तान'—कमलेश्वर आदि।

1993 ईस्वी में प्रकाशित सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' के केन्द्र में यौन मुक्ति के दर्शन को प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास की नायिका सिलबिल, जो कस्बे के प्राइमरी स्कूल में संस्कृत के मामूली अध्यापक की बेटी है' उसके सामने असम्भव महत्वाकांक्षाओं और सपनो की कभी न समाप्त होने वाली शृंखला सजायी जाती है और वह उन सबको पाने के लिए मचल उठती है। असम्भव से आगे बढ़ते जाने की ललक सिलबिल उर्फ वर्षा वशिष्ठ को अकेला कर देती है। सिलबिल एक प्रतीक मात्र है उन लड़कियों की जो सब कुछ पा लेने के चक्कर में अपना सर्वस्व खो देती हैं। पूँजी इतनी चंचल है कि वह किसी संबन्ध को ठहरने नहीं देती। सिलबिल अपनी उपलब्धियों और जीवन के सम्बन्ध में सामन्जस्य नहीं बैठा पाती।

भूमण्डलीकरण में स्त्री की इसी अंधी दौड़ को दर्शाने वाला उपन्यास है चित्रा मुद्गल का 'आवां' (1999ई०) जहाँ स्त्री इस भूमण्डलकरण के आवां में पक रही है। पूँजी की चकाचौंध किसी को भी गुलाम बना सकती है और वह चाहे बम्बई के ट्रेड यूनियन के नेता की बेटी नमिता पाण्डेय हो या कोई और स्त्री — मुक्ति का प्रश्न देह—मुक्ति कुछ हद तक 'रिड्यूस' हो जाता है। बाजार मुक्ति का झाँसा देता है और शायद कुछ हद तक मुक्त करता है, लेकिन उससे ज्यादा वह अपने संजाल में फंसाता भी है।

'मुन्नी मोबाइल'—प्रदीप सौरभ का लिखा एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। 'आनन्द भारती उपन्यास का एक प्रमुख पात्र जो एक पत्रकार हैं और जिसकी पैनी, खोजी और निर्भीक कलम देश समाज की घटना को शब्दबद्ध करती चली जा रही है। उपन्यास के केन्द्र में 'मुन्नी मोबाइल' की कथा है। 'मुन्नी मोबाइल' जो पढ़ी लिखी नहीं है। आनन्द भारती के यहाँ चौका—बासन का काम करती है। आनन्द भारती उसे जैसे तैसे हस्ताक्षर करना सिखलाते हैं। मुन्नी मोबाइल' का असली नाम 'बिन्दु यादव' है। वह 'बिहार' के 'बक्सर' जिले से आकर दिल्ली के समीपवर्ती उपनगर साहिबाबाद में रहती है। वह क्रमशः ऊपर की सीढ़ियाँ चढ़ती और भटकती हुई हर तरह के दांव पेंच में माहिर होने लगती है। हर तरह की विपरीत परिस्थितियों को सहती उनकी काट सोचती वह कई बसों की मालकिन बन जाती है और चौधराइन की संज्ञा पाती है। उपन्यास के ये पात्र जिस उपभोगपरक ग्लैमर और विलासिता के आकर्षक, अर्थप्रधान देश काल में जी रहे हैं। वहाँ रास्तों फैसलों के सही—गलत, नैतिक अनैतिक सोचने की फुरसत किसी को नहीं है। बस आगे दौड़ते चले जाना ही, यहाँ जीवन की एकमात्र मंशा है।

'रेहन पर रग्घू' वरिष्ठ कथाकार काशीनाथ सिंह का साहित्य अकादमी से पुरस्कृत प्रसिद्ध उपन्यास है। लेखक ने भूमण्डलीकण की त्रासदी और समकालीन मनुष्य जो निरन्तर एकाकीपन की ओर अग्रसर को निहायत संजीदगी से चित्रण करने का सफलतम प्रयास किया है। वैश्वीकरण की विद्रूपताओं को टटोलने वाला यह एक लोकप्रिय उपन्यास है। कथाकार ने यह बताने का प्रयास किया है कि –किस तरह बाजार हमारे गाँव घर में घुस चुका है? किस तरह हमारी चेतना, हमारी संस्कृति को कैप्चर किया जा रहा है? पूँजी के प्रलोभन, नवधनाढ्य मध्यवर्गीय जीवन और इस प्रकार के मुखौटावादी समाज का जो चित्र खींचा है उसका उदाहरण देखिए–जिस कम्पनी में और जिस कान्ट्रैक्ट पर अमरीका जाना है, उससे तीन साल में कोई भी इतना कमा लेगा कि अगर उसका बाप चाहे तो गॉव का गॉव खरीद ले। लेखक ने अपने उपन्यास में इस बात की भी घोषणा करते हैं कि गॉवों में शहरों का प्रवेश होकर नयी बसी कालोनियों में उपभोक्तावाद और बाजारवाद निंतर प्रवेश करता जा रहा है। निःसंदेह 'रेहन पर रग्घू' 21वीं सदी का वास्तविकता का जीता जागता उदाहण है।

अजय नावरिया अपने समय के जागरूक और सामाजिक विसंगतियों पर पैनी नजर रखने वाले साहित्यकार हैं। 'उधर के लोग' उपन्यास भारत की जातिव्यवस्था एवं वैवाहिक स्थिति को पुनर्भाषित करते हुए सम्बन्धों को वैकल्पिक समरसता के साथ जोडकर नयी सोच एवं नयी जगह की नींव रखी। यह उपन्यास पितृसत्तात्मक एवं पूँजीवाद के समर्थक चोंचलेबाजी का कटघरे में खड़े करते हुए वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करता है। बाजार की भ्रामक नियति, साम्प्रदायिक तनाव युवा वैचारिक तनाव, नारी जीवन के विभिन्न रूप खासकर एक वैश्या का जीवन को लेकर नावरिया जी बहुत हद तक गम्भीर एवं संवेदनशील हैं। निश्चित रूप से 'उधर के लोग' उपन्यास स्वागत योग्य है। इस प्रकार भूमण्डलीकरण के दौर में जब हर तरफ मानवता विरोधी शक्तियाँ सक्रिय हैं, यांत्रिक संस्कृति और विज्ञापनों का शोर है, बाजार की निरंकुशता पूरी तरह से हावी है, वैश्विक गाँव के नाम पर गाँव उजड़ने लगे हैं।

'कमलेश्वर' द्वारा रचित 'कितने पाकिस्तान' विभाजन की त्रास्दी, धर्मवाद व क्षेत्रवाद की पीड़ा का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। यह कृति ना केवल 'भारत–पाकिस्तान' के विभाजन की त्रासदी, आम कत्लेआम, मार–काट को प्रस्तुत करती है बल्कि दुनिया में इस तरह के तमाम त्रासदियों का पक्ष सामने लाती है। इतिहास के गुनहगारों को पेश किया जाता है, सुनवायी होती है लेकिन फैसला निर्णायक स्तर तक नहीं पहुंच पाता। 'अदीब–विद्या', 'बूटा सिंह, जेनिब' जैसे पात्रों के प्रेम का अधूरा छूट जाना, उपन्यास के मार्मिक पक्ष को और उद्वेलित करता है।

'यह उपन्यास मानवता के दरवाजे पर इतिहास और समय की एक दस्तक है। इस उम्मीद के साथ कि भारत ही नहीं, दुनिया भर में एक के बाद एक दूसरे पाकिस्तान बनाने की लहू से लथपथ यह परम्परा अब खत्म हो।

■

साहित्य विमर्श

रेखाचित्र : कल और आज

राखी *

साहित्य के विभिन्न रूप होते हैं। अपनी रुचि प्रकृति, विषयवस्तु की आवश्यकता के अनुसार अपने ज्ञान और अनुभवों को व्यक्त करने के लिए साहित्यकार इनके किसी भी रूप का चुनाव कर सकता है। इन साहित्यिक रूपों को 'साहित्य की विधाएँ' कहते हैं। हिन्दी गद्य साहित्य का विकास दीर्घकाल में हुआ। गद्य की प्रमुख विधाएँ नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि हैं। इनके अतिरिक्त नवीन विधाओं में गद्य गीत, रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रा–वृत्तांत, आत्मकथा, जीवनी, पत्र इत्यादि भी स्थापित हो चुके हैं। रेखाचित्र हिन्दी साहित्य की नवीनतम विधा है। यह अँग्रेजी में 'स्केच' का हिन्दी पर्याय है। रेखाचित्र में कम से कम शब्दों में कलात्मक ढंग से किसी वस्तु, व्यक्ति या दृश्य का अंकन किया जाता है, जिसमे साधन शब्द होते हैं रेखाएँ नहीं। इसलिए इसे 'शब्दचित्र' भी कहते हैं। रेखाचित्र और संस्मरण के बीच की विभाजक रेखा बहुत सूक्ष्म है। अपनी प्रकृति में रेखाचित्र किसी सीमा तक संस्मरण होगा पर संस्मरण में रेखाचित्र निहित हो, यह जरूरी नहीं। रेखाचित्र में जीवन का सर्वांगीण चित्र न आकर एकांगी चित्र ही आता है।यह किसी व्यक्ति, वस्तु घटना या भाव का कम से कम शब्दों में मर्मस्पर्शी एवं सजीव अंकन है। रेखाचित्र में वस्तुतः अनेक साहित्यिक विधाओं की तरंगें उठती हैं। इसमें कहानी का कौतूहल है तो निबन्ध की गहराई गद्य काव्य की भावात्मक लयात्मकता है, तो डायरी में व्यक्त निश्छल मन की अभिव्यक्ति, संस्मरण की वैयक्तिकता है तो भेंटवार्ता का खुलापन आत्मकथा –जीवनी की बेबाकी है तो यात्रावृत्तांत का सीमित विस्तार व्यंग्य की छेड़छाड़ है तो रिपोर्ताज की गुनगुनाहट भी। विभिन्न साहित्यिक रसों के घोल में घुली ये रेखाएं अंगड़ाई लेकर विशिष्ट चित्रों में ढल जाती है। 1990 के बाद 'रेखाचित्र' विधा में रचनाएँ कम मिलती है, संभवतः इसलिए कि जीवन की जटिलता से उलझा साहित्यकार और पाठक जीवन की विद्रूपता से साक्षात्कार (जो कि रेखाचित्र का गुण है) करने में अपने को असमर्थ पाता है।

हिन्दी साहित्य में रेखाचित्र लिखने का प्रथम श्रेय 'पद्मसिंह' को दिया जाता है। इनका रेखाचित्र 'पद्मपराग' में संग्रहीत है जिसका प्रकाशन 1924 ई.

* लेखिका पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय की शोधछात्रा है। ग्राम+पो.– सुरसंड, सीतामढ़ी– 843331, मो. 7903236844

में हुआ था। रेखाचित्र विभिन्न विधाओं की विशेषताओं का विचित्र समुच्चय है। अतः एकात्मता, सरस और मार्मिक शैली, संस्मरणात्मक चित्र, दृश्य की संवेदनशीलता, कल्पना का सौंदर्य, सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति, तीव्रता, संक्षिप्तता, विवरण की न्यूनता आदि रेखाचित्र की प्रमुख विशेषताएं मानी जा सकती है। 'चित्रात्मकता' रेखाचित्र को साहित्य की अन्य विधाओं 'से' पृथक करती है। 'अतीत की स्मृति' रेखाचित्र का महत्वपूर्ण तत्व है क्योंकि यह इसे कहानी विधा से अलग करती है। डॉ. मक्खन लाल शर्मा का मत है कि रेखाचित्र की विषय वस्तु दीर्घ न होकर सूक्ष्म होनी चाहिए। रेखाचित्र को पारिभाषित करते हुए डॉ. शान्ति खन्ना लिखती हैं – 'रेखाचित्र साहित्य का वह गद्यात्मक रुप है जिसमें एकात्मक' विषय विशेष का शब्द रेखाओं से संवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया जाता है'। 'साहित्यिक विधाएँ –पुनर्विचार' में डॉ. हरिमोहन रेखाचित्र को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि– 'रेखाचित्र कथेतर गद्य की जीवनपरक वर्णनात्मक विधा है' जिसमें निकट संपर्क के किसी एक व्यक्ति, प्राणी अथवा वस्तु का प्रभावपूर्ण, वस्तुपरक और संवेदना जगाने वाला चित्रण किया जाता है। इसमें वस्तुतः चाक्षुष और अपेक्षाकृत स्थिर बिंब होते हैं, जो जीवन का एकांगी चित्र प्रस्तुत करते हैं। रेखाचित्र की विशेषता बताते हुए रामस्वरूप चर्तुवेदी लिखते हैं "रेखाचित्र में व्यक्तित्व को समग्रतः और बहुत कुछ स्थिर रूप में देखने की चेष्टा होती है वहीं शिवदान सिंह चौहान का कहना है– "रेखाचित्र में किसी वस्तु मनुष्य या स्थान के बाह्य रूप से उसकी आंतरिक सुंदरता, कुरूपता, संपन्नता, विषमता को पकड़ने की चेष्टा होती है। उसमें अनुभूति और अनुभव का चित्रण ही मुख्य है"।

रेखाचित्र का सम्यक् विकास छायावादोत्तर काल में दिखाई देता है। महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि का अभ्युदय सन् 1930 के बाद होता है। यह वह समय था जब साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवादी प्रवृत्तियों का विकास निरंतर नए– नए रूपों में दृष्टिगत होता है। समाज और देश की वास्तविकताओं के बहुरूपी आयामों को लेखन का विषय बनाने की सास्कृतिक आवश्यकताओं के तहत गद्य में भी नयी उद्‌भावना और प्रयोगशीलता के उदाहरण के रूप में रेखाचित्र को स्वीकृति मिलने लगी। इसमें नए किस्म का आकर्षण और अनूठापन था और वर्ण् पात्रों का साक्षात्कार कराने की अद्‌भुत शक्ति भी। ये ऐसे पात्र थे जो जीवन से सीधे–सीधे उठा लिए गए थे और जिन पर धरती की धूल भी चढ़ी हुई थी। दलित और उत्पीड़ित आम जनता के बीच के ये जाने पहचाने चेहरे थे जो गद्य की नयी कला के फ्रेम में काट–छाँट कर पेश किए गए थे।

महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'मेरा परिवार', और रामवृक्ष बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें, 'गेहूँ और गुलाब', अविस्मरणीय क्लासिक कृतियों के रूप में आज भी याद किये जाते हैं। अन्य रेखाचित्रकारों में' श्री राम शर्मा –बोलती प्रतिमा', 'बनारसीदास चर्तुवेदी रेखाचित्र, 'सेतुबन्ध', 'कन्हैयालाल मिश्र माटी हो गई सोना', 'विनयमोहन शर्मा', 'रेखा और रंग', 'देवेन्द्र सत्यार्थी –रेखाएँ बोल उठीं', 'कृष्णा सोबती'– 'हम हशमत', 'उपेन्द्रनाथ' अश्क –रेखाएँ और चित्र', 'विष्णु प्रभाकर कुछ शब्द, कुछ रेखाएँ', 'जगदीश चन्द्रमाथुर –दस तस्वीरें',

'माखन लाल चर्तुवेदी', समय के पाँव', इत्यादि महत्वपूर्ण हैं। समकालीन हिन्दी साहित्य में रचनाकारों ने विधा के बंधनों को थोड़ा शिथिल किया है। आज हम परंपरागत मानदंडों पर कसकर कई विधाओं को नहीं देख सकते। रेखाचित्र विधा का भी रूप बदल रहा है, उसको हम कहीं कहानी के भीतर तो कहीं संस्मरण अथवा आत्मकथा के भीतर अंतर्भुक्त पाते हैं और कहीं स्वतंत्र विधा के रूप में देखते हैं। हिन्दी रेखाचित्र ने अपनी सीमा का लगातार अतिक्रमण किया है। यह विधा के भविष्य के लिए शुभ संकेत है। साथ ही 'हंस', ' रूपाभ', 'विशाल भारत', 'कल्पना', 'नई धारा', इत्यादि पत्रिकाओं का रेखाचित्र के विकास में सराहनीय योगदान है।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'रेखाचित्र' को 'शब्दचित्र' भी कहा है। इन्होंने 'लालतारा' में लिखा है–'लालतारा' मेरे शब्दचित्रों का पहला संग्रह है"। 'लाल तारा' संग्रह के रेखाचित्र बेनीपुरी जी के विद्रोही एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोण के द्योतक हैं। इस संग्रह की कुछ पंक्तियाँ।

"आज क्या यह मुनासिब नहीं था कि अपनी–अपनी मेहनत की इस कमाई से अपनी सुख–दुख की साथिन का लाज ढँकता, अपनी बेटी की जवानी को बर्बाद होने से बचाता और अपने प्यारे बच्चे'! ३ वैधजी कहते थे – वह अब भी बच सकता है। किंतु ये बचने देंगे? बिना उसको खाये इनको चैन होगा? क्या बाबू साहब को पैसे की कमी है? क्या साहू जी का तोड़ा जरा भी खाली है? फिर लगान–लगान, सूद –सूद की यह कैसी रट? नहीं, ये गिद्ध के चचा हैं बिना जिंदा मांस खाये !' गराभू काँपने लगा, गिर पड़ा। पहले बड़ –बड़ाहट फिर। नाक की आवाज तब सन्नाटा। और उधर निविड़ अंधकार और घने कुहासे के पर्दे को फाड़कर वह लाल तारा पूरब के क्षितिज पर जगमग–जगमग कर रहा था''।

रामवृक्ष बेनीपुरी निर्विवाद रूप से हिन्दी के श्रेष्ठ रेखाचित्रकार माने जाते हैं। इनके रेखाचित्र में हम सरल भाषाशैली में सिद्धहस्त कलाकारी को देख सकते हैं। 'माटी की मूरतें' (1946) से इन्हें विशेष ख्याति मिली। इस संग्रह में वे समाज के उपेक्षित पात्रों को गढ़कर नायक का दर्जा दे दिया उदाहरण स्वरूप 'रजिया' नामक निम्नवर्ग की एक बालिका को जीवंत कर दिया। इस संग्रह के अन्य नायक 'बलदेव सिंह', मंगर, बालगोबिन भगत, बुधिया, सरजू भैया इत्यादि हैं। इनकी भाषा भावना प्रधान है, कुछ आलोचक उनकी भाषा को गद्य काव्य की संज्ञा भी दे चुके हैं। 'सरजू भैया' के शारीरिक बनावट में उनकी भाषा की कुशलता को देखा जा सकता है जैसे– 'गाँव के सबसे लंबे और दुबले आदमियों में सरजू भैया की गिनती हो सकती है। रंग सांवला, बगुले –सी बड़ी–बड़ी टाँगे, चिम्पांजी की तरह बड़ी–बड़ी– बाँहें। वह मेरे बड़े भाई हैं ,मैं उनका छोटा भाई"। साथ ही इसी संग्रह के पात्र 'मंगर' का वर्णन इस शब्दों में करते हैं 'हट्टा –कट्टा शरीर, कमर में भगवा, कंधे पर हल, हाथ में पैना, आगे –आगे बैल का जोड़ा। अपनी आवाज के हास से ही बैलों को भगाता, मेरे खेत की ओर सुबह –सुबह जाता, जबसे मुझे होश है मैंने मगर कोई सी रूप में देखा है'। 'रूपा की आजी 'रेखाचित्र में उन्होंने जो शाब्दिक चित्र खींचा है वह उनकी भाषा की कसावट का ही प्रमाण है –रूपा की

आजी की यह है सूरत –शक्ल –लंबी –गोरी औरत, भरा –पूरा बदन। हमेशा साफ –सफेद बगाबग कपड़ा पहने रहतीं। उस सफेद कपड़े के घेरे से उनका चेहरा रोब बरसता, फिर उनकी बड़ी–बड़ी आँखें, जिनपर लाली की एक हल्की छाया! देव नामक रेखाचित्र में बेनीपुरी जी ने अमरूद के पेड. का बहुत ही शानदार बिंब खींचा है– 'यह विलायती अमरूद का पेड़ साधाारण अमरूद के पेड़ों से छोटा। इसकी डालियाँ तुनक, लचीली। पत्ते गहरे हरे, ज्यादा चिकने और छोटे–छोटे। फल बड़ी सुपारी से बड़े नहीं। पकने पर उन पर दूधिया रंग चढ़ जाता। लेकिन गूदा लाल टेस'। 'भौजी रेखाचित्र' में जो उन्होंने संस्मरणात्मक रेखाचित्र खिंचा है वे पाठक के सामने चलचित्र के जैसा चलने लगता है जैसे भौजी और उनकी धर्मपत्नी के बीच के कलह का एक शब्द दृश्य–'एक दिन इसी तरह का कलह मेरी रानी से चल रहा था की मेरे बड़े बच्चे के रोने की आवाज आइ। झगड़ा छोड़कर दौड़ती हुई गई– किसने मेरे बच्चे को मारा? बाज–सी झपटती उसी ओर गई और मैंने देखा, बच्चे को लेकर दौड़ी आ रही है। बच्चा जोर–जोर से रो रहा था। उसे बिढ़नी ने ढँक मारा था बच्चे को मेरी की गोद में रख, दौड़ी –दौड़ी गई, किरासन तेल ले आई, गेंदे की पत्तियाँ ले आई और जहाँ डंक था, वहाँ लगा दिया– यही देहाती दवा थी। बच्चा थरथरा काँप रहा था। डंक ज्यादा जहरीला था। उसे बुखार हो आया'।

इस संग्रह में वे कहते हैं 'मैं साफ कह दूँ ,ये कहानियां नहीं जीवनियाँ हैं। ये चलते–फिरते आदमियों के शब्दचित्र हैं। ये माटी की बनी हैं, माटी पर धरी है। इसलिए जिंदगी के नजदीक है, जिंदगी से सराबोर है। हजारीबाग की सेंट्रल जेल के एकांत जीवन में अचानक मेरे गाँव और मेरी ननिहाल के कुछ ऐसे लोगों की मूरतें मेरी आँखों के सामने आकर नाचने और मेरी कलम से चित्रण की याचना करने लगीं, मिट्टी के उन पुतलों की ये माटी कि मूरतें! हाँ ये देखती है, सुनती है खुश होती है, नाराज होती है''। बेनीपुरी के रेखाचित्रों के बारे में संक्षेप में कहा जा सकता है की इन्हें जीवन में जो भी पात्र मिले उन्होंने अपनी कुशल लेखनू से उन्हें जीवंत कर दिया। विषय की विविधता और शैली की सरसता का इनके यह अपूर्व संयोजन मिलता है। इनके रेखाचित्रों के श्रेष्ठता का अनुमान मैथिली शरण गुप्त जी के इस कथन से लगाया जा सकता वे 'माटी की मूरतें' के बारे में कहते है – "लोग माटी की मूरतें बनाकर सोने के भाव बेचते हैं पर बेनीपुरी जी सोने की मूरतें बनाकर माटी के मोल बेच रहे हैं"।

महादेवी वर्मा ने रेखाचित्र को पारिभाषित करते हुए कहा है –"चित्रकार अपने सामने रखी वस्तु या व्यक्ति या रंगहीन चित्र जब कुछ रेखाओं को इस प्रकार आंक देता है कि उसकी विशेष मुद्रा पहचानी जा सके तब उसे हम रेखाचित्र की संज्ञा देते हैं। संस्मरण में भी साहित्यकार कुछ शब्दों में ऐसा चित्र अंकित कर देता है जो उस व्यक्ति या वस्तु का परिचय दें सके, परंतु दोनों में अंतर है। इन्होंने अपनी पुस्तक 'अतीत के चलचित्र' में लिखा है–" इन स्मृति चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया हैं। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि अंधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश में धुंधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं। उसके बाहर तो

अनंत अंधकार के अंश हैं। मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसे परिचय दे पाते हैं, वह बाहर रूपांतरित हो जाएगा"। महादेवी वर्मा उस काल से संबंध रखती हैं जिसमें उपन्यास, कहानी, नाटक आदि गद्य विधाओं का वर्चस्व् था। परंतु उन्होंने अल्पविकसित रेखाचित्र को जीवन के यथार्थ को व्यक्त करने वाला सशक्त माध्यम बनाया। उन्होंने रेखाचित्र के माध्यम से नायक की बदलती हुई अवधारणा प्रस्तुत की है। आधुनिक काल में सामान्य मानव की प्रतिष्ठा होती है और छायावादकालीन महादेवी वर्मा समाज के सर्वहारा वर्ग को लेखन के केन्द्र में लेकर आती है। 'अतीत के चलचित्र' और स्मृति की रेखाएँ' संग्रह में समाज के असहाय वर्ग को वाणी प्रदान की है। विधवा युवतियाँ, विमाता द्वारा सताये बच्चे, दिन–हीन किंतु कर्मठ पात्र उनके रेखाचित्र के विषय है। महादेवी जी के रेखाचित्रों में करुणा की प्रधानता है तथा ऐसे दिन–हीन, दुःखी, पीड़ित पात्रों को वे अपने रेखाचित्र का विषय बनती है जो पाठकों की पूरी सहानुभूति प्राप्त कर लेते हैं। "स्मृति की रेखाएँ" में निरंतर जिज्ञाषाशील महादेवी ने अपनी स्मृति के आधार पर अमित रेखाओं द्वारा अत्यंत सहृदयतापूर्वक जीवन के विविध रूपों को चित्रित कर पात्रों को अमर कर दिया तथा उत्कृष्ट गद्य –शैली का भी निदर्शन प्रस्तुत किया है। शब्दों के नपे–तुले एवं सटीक प्रयोग में वे अत्यंत कुशल है। ध्यातव्य है कि महादेवी वर्मा कवित्री होने के साथ–साथ चित्रकार भी है। किस रेखा में किस रंगो को डाला जाए यह उन्हें खूब मालूम है। चित्र को रंगीन बनाने में वे अपनी काव्यात्मक प्रतिभा का उपयोग करती हैं तथा बिम्बात्मक बनाने में अलंकार का। उनके गद्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है "गूँगिया ने उस मैले–फटे कागज के टुकड़े को अस्थिशेष उँगलियों में दबाकर पंजर जैसे हृदय पर रखकर आँखें मूँद ली पर झुर्रियों में सिमटी हुई पलकों के कोने से बहने वाली आंसू की पतली धार उसके कानों को छूकर मैले और तेल से चीकट तकिये को धोने लगी"।

इनकी 1972ई. में प्रकाशित रचना 'मेरा परिवार' रेखाचित्र संग्रह की एक विशिष्ट कड़ी है, जिसमें हिन्दी साहित्य में संभवतः पहली बार इतनी आत्मीयता से पशु–पक्षियों का वर्णन मिलता हैं। महादेवी जी ने कुछ विशिष्ट मानवेतर प्राणियों के प्रति अपनी जिस सहज, सौहार्द और एकांत आत्मीयता की अभिव्यंजना का जो अपूर्व कला–कौशल अपने इन चित्रों में व्यक्त किया है, वह केवल उनकी अपनी ही कला की विशिष्टता की दृष्टि से नहीं वरन् संसार की इस कोटि की कला के समग्र क्षेत्र में भी बेमिसाल और बेजोड़ है। इस रेखाचित्र संग्रह में गिल्लू (गिलहरी), गौरा (गाय), दुर्मुख (खरगोश), नीलकंठ (मोर) और सोना (हिरणी) को जिस प्रकार दिखाया है वह आत्मीयता से भर देता है, उन्होंने नीलकंठ (मोर) की सुंदरता का वर्णन इस प्रकार किया है उसका चित्र आँखों के सामने बनने लगता है –"मोर के सिर की कलगी और सघन, ऊँची तथा चमकीली हो गई। चोच अधिक बंकिम और पैनी हो गई , गोल आँखों में इन्द्रनील की नीलाभ द्युति झलकने लगी"। "गिल्लू गिलहरी का जो प्रेम परिचय दिया है वह हृदय भर देता है। लेखिका के अस्वस्थ होने के बाद गिल्लू अपना प्रिय खाद्य पदार्थ काजू बहुत कम–कम मात्रा में खाने लगा था और महादेवी जी के घर आने के बाद वह उनके

पास ही बैठा रहता था। लेखिका ने अपने शब्दों में लिखा है– 'वह तकिये पर सिरहाने बैठकर अपने नन्हें–नन्हें पंजों से मेरे सिर और बलों को इतने हौले हौले सहलाता रहता की उसका हटना एक परिचारिका के हटने के समान लगता'।

रेखाचित्र के प्रकार की चर्चाकरें तो यह पाँच प्रकार की होते है– वर्णनात्मक, संस्मरणात्मक, चरित्र प्रधान, व्यंग्यात्मक तथा मनोविश्लेषणात्मक।

निष्कर्षतः– रेखाचित्र न तो संपूर्ण कथा होती हैं और न किसी पात्र का संपूर्ण जीवनवृत्त। वस्तुतः एक निश्चित दृष्टिकोण से किसी व्यक्ति, पात्र अथवा चरित्र के कुछेक पहलुओं का गतिशील प्रतिबिम्ब ही रेखाचित्र का आकार ग्रहण कर लेती हैं। इसकी सफलता शब्दों और वाक्यों के कुशल संगुंफन पर निर्भर करती है। 'रेखाचित्र' यद्यपि एक नवीन विधा के रूप में हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित हो चुका हैं फिर भी आलोचकों ने इसकी शास्त्रीय विवेचना को लेकर कोई गंभीर प्रयास नहीं किया है। इसलिए रेखाचित्र का स्वरूप निर्धारण आसान कार्य नहीं है। यह कहा जा सकता है कि ऐसी रचना, जिसमें जीवन का यथार्थ व संवेदनाएँ संपृक्त हों, जिसका लंबा इतिहास हो, रचनेवाले कई साहित्यकार हों, शिल्प, भाषा व प्रभावोत्पादकता में सर्वथा नवीन हो और ये विपुल संख्या में रची गयी हो, निश्चित रुप से स्वतंत्र विधा के तौर पर पहचाना जाना चाहिए। रेखाचित्र के साथ –साथ साहित्य की 'अन्य गद्य विधाओं' (कथेतर) की ओर भी रचनाकारों और आलोचकों का ध्यान जाना चाहिए। इन विधाओं में भी पर्याप्त क्षमता, सामर्थ्य और संभावनाएँ है। साथ ही आज निरंतर होते मूल्यह्रास के युग में रेखाचित्र प्रासंगिक भी है और उपयोगी भी। रेखाचित्र 'गागर में सागर' भरने की क्षमता से संपन्न विधा है इसलिए अधिक प्रभावशाली एवं लोकप्रिय है।

संदर्भ ग्रंथः–

1. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली –डॉ अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन
2. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन
3. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली– डॉ अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन
4. आधुनिक हिन्दी का जीवनीपरक साहित्य शान्ति खन्ना, सन्मार्ग प्रकाशन
5. साहित्यिक विधाएँ पुनर्विचार– डॉ हरिमोहन, वाणी प्रकाशन
6. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकासरू रामस्वरूप चतुर्वेदी
7. साहित्यानुशीलन – शिवदान सिंह चौहान, आत्माराम एवं संस
8. लालतारा रू रामवृक्ष बेनीपुरी, भूमिकाएँ प्रथम संस्करण
9. माटी की मूरतें – रामवृक्ष बेनीपुरी, भूमिका
10. रेखाचित्र– महादेवी वर्मा भूमिका
11. अतीत के चलचित्ररू महादेवी वर्मा लोकभारती प्रकाशन राखी(JRF)

■

साहित्य विमर्श

नागार्जुन के काव्य में

प्रगतिशीलता और जनसंघर्ष

खुशबू कुमारी *

साहित्य में प्रायः प्रगतिवादी साहित्य को मार्क्सवादी या साम्यवादी साहित्य के रूप में प्रचारित किया जाता रहा है। मार्क्सवाद एक विचारधारा है जो सामंती मूल्यों एवं पूंजीवादी सोच के विरुद्ध आम नागरिकों विशेषकर किसानों और श्रमिकों के पक्ष में कार्य करती है। अतः मार्क्सवाद से प्रभावित दृष्टिकोण को आगे बढ़ानेवाली इस भारतीय धारा को प्रायः विद्वान हिंदी साहित्य में प्रगतिशील धारा के नाम से परिभाषित करते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार– "दक्षिणपंथी दौर में वह साहित्य प्रगतिशील है जो समाज को आगे बढ़ाता है और मनुष्य के विकास में सहायक होता है परंतु उग्रपंथी दौर में उनकी नई स्थापना यह है कि प्रगतिशील साहित्य भारतीय जनता की सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास है। वह स्वाधीनता, शांति और जनतंत्र का ऐसा साहित्य है जो देश से साम्राज्यवाद और सामंतवाद की संस्कृति निकालने के लिए संघर्ष करता है।"[1]

प्रगतिशील विचारधारा ने भारतीय साहित्य में सन् 1936 ई. को लखनऊ में मुंशी प्रेमचंद की अध्यक्षता में संपन्न प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन से एक स्वरुप ग्रहण किया। उसी समय से जो लेखन आम आदमी के हित में किया जाता है उसे प्रगतिशील अथवा प्रगतिवादी साहित्य के नाम से जाना जाता है। साहित्य में सभी प्रकार के शोषण से मानवजाति को मुक्त कर उसे समाज में यथोचित स्थान दिलाने का कार्य करने वाली रचनाएं प्रगतिशील कहलाती हैं। कविता के माध्यम से मानव मुक्ति की रचनाएं करने वाले कवि प्रगतिशील कवि कहे गए हैं तथा उनकी कविताएं प्रगतिशील काव्य की श्रेणी में आती है। किसी भी समाज को समझने के लिए सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज साहित्य होता है क्योंकि साहित्य और समाज का संबंध हमेशा से ही बहुत गहरा रहा है इसलिए वह एक दूसरे को प्रभावित, नियंत्रित और संचालित भी करते हैं। साहित्य की इसी प्रवृत्ति के कारण प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य को 'जनता की चित्तवृतियों का संचित प्रतिबिंब' कहा है।

* पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय की शोध छात्रा। संपर्क : सिद्धिपुर, पो. शिवपुर, बक्सर– 802125 (बिहार), मो. 9110912723

हर वो व्यक्ति, समाज या साहित्य जो मानवजाति के विकास और कल्याण के बारे में सोचता है और कार्य करता है, प्रगतिशील है। हिंदी में प्रगतिशील साहित्य का विकास भारतीय साहित्य की उस परंपरा से संबंधित है जिसके मूल में लोकमंगल की भावना कार्यरत रही है। यह भावना हिंदी साहित्य में हमें आद्यंत दिखाई पड़ती है। यद्यपि इस प्रगतिशील चेतना की सदैव एक विशिष्ट सार्थकता रही है तथापि वर्ष 1936 में हुए प्रगतिशील आंदोलन ने हिंदी साहित्य को सामाजिक चेतना, सामाजिक न्याय और जनवाद के पथ पर चलने की प्रेरणा और शक्ति दी जिससे वर्ष 1936 के बाद साहित्य में प्रगतिशील चेतना का यह स्वर एक नवीन कलेवर और विशिष्ट महत्त्व के साथ खुद को प्रस्तुत करता है। प्रगतिशील कविता सामंती, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी लूट तथा भ्रष्टाचार, अंधविश्वास, ध ार्मिक, जातीय, भाषाई तथा लैंगिक श्रेष्ठता के विरुद्ध सशक्त विरोध दर्ज करती है। इसके अतिरिक्त यह आम जनता को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने, उनकी क्षमता को बढ़ाने तथा उन्हें एकजुट होकर मुक्ति के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा भी देती है।

नागार्जुन इसी प्रगतिशील काव्यधारा के प्रमुख कवि है जिन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा तथा भारतीय भाव–धारा के मेल से जीवन–दर्शन को प्राप्त किया है। व्यापक जन चेतना से जुड़ी उनकी कविताएं अपनी सहजता में गंभीरता और गहनता को लिए हुए जीवंत हो उठी हैं। जीवन संघर्ष और जीवन सौंदर्य के अप्रतिम कवि नागार्जुन की कविता इस बात का सबूत है कि प्रगतिशील कविता कोई एकपक्षीय या संकीर्ण कविता नहीं है, बल्कि ऐसी कविता है जो जीवन की तरह व्यापक और विविध है। नागार्जुन ने अपनी कविताओं में यथार्थ की भूमि पर व्यक्ति, समाज जीवन और प्रकृति के बीच गहरे संबंधों की स्थापना की है। श्रम के आधार पर मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा के लिए शाोषित मानवजाति का पक्ष लेकर समाज के शोषक वर्ग के प्रति जो आक्रोश उनकी कविता में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है–

''जमींदार है, साहूकार है, बनिया है, व्यापारी है,
अंदर–अंदर विकटे कसाई, बाहर खद्दरधारी है।''

नागार्जुन जनवादी कवि हैं। उनकी कविता का केंद्र बिंदु आम आदमी है जिसे दिन–रात कड़ी मेहनत करने के बाद दो वक्त की रोटी नसीब हो पाती है। इसलिए नागार्जुन आम आदमी की नियति में परिवर्तन लाना चाहते हैं और यह परिवर्तन क्रांति से ही संभव है। इसके लिए वे जनसंघर्ष को आवश्यक मानते हैं। समाज का हर आदमी अपनी वास्तविक स्थिति को समझे, अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करे, कवि इसके लिए प्रयासरत है क्योंकि उसे विश्वास है कि इस संघर्ष के परिणामस्वरूप उन्हें उनका अधिकार अवश्य मिलेगा। एक दिन ऐसा आएगा जब समाज का शोषित वर्ग राज करेगा। यही आशावादी प्रकृति नागार्जुन की निम्नलिखित पंक्तियों में दिखाई देती है–

''बढ़े सहयोग भेद मिट जाए, मिटे शोषण का नाम–निशान / दहे अन्यायों की दीवार, सुखी होवें मजदूर किसान / हो न फूट सहयोग – भावना सब में घर कर जाए / जन–जन में सहयोग बढे विकसित हो खूब समाज / युग पलटा है अब किसान मजदूर करेंगे राज।''[2]

नागार्जुन स्वयं निम्न मध्यवर्गीय परिवार से आए हैं। उन्होंने गरीबी की यातना को बहुत करीब से देखा है। यही कारण है कि आम आदमी का दुख–दर्द उन्हें अपनी ओर खींचता है। तभी तो मैनेजर पाण्डेय उनके विषय में कहते हैं– ''नागार्जुन अपने समय और समाज की सच्चाई कविता में लाकर उसे जन–मन में उतारते हैं। नागार्जुन की काव्य–यात्रा उनकी जीवन यात्रा से अलग नहीं है।''[3] नागार्जुन का काव्य भोगा हुआ यथार्थ है। इसलिए उन्होंने सामंती पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध शोषित, दलित, मजदूर जनता को अपनी कविता का विषय बनाकर उनके भीतर सामंतों के खिलाफ संघर्ष करने की, आवाज उठाने की अजय शक्ति का संचार किया है। मजदूरों को उनका हक दिलाने के लिए वे स्वयं मजदूर आंदोलन के साथ जुड़े हुए थे। कुली मजदूरों के जीवन संघर्ष का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं–''कुली मजदूर है / बोझा ढोते हैं खींचते हैं ठेला / धूल–धुआं भाप से पड़ता है सबका / थके मादे जहां–तहां हो जाते हैं ढेर / सपने में भी सुनते हैं धरती की धड़कन।''

नागार्जुन स्वयं को प्रतिबद्ध कवि कहते हैं और उनकी यह प्रतिबद्धता जनता के प्रति है। उनके काव्य में हमें समाज के हर उस वर्ग की पीड़ा का स्वर सुनाई देता है जो शोषित है, पीड़ित है, बेबसी और लाचारी में जीने के लिए अभिशप्त है। समाज के इसी शोषित वर्ग को उसका अधिकार दिलाने के लिए अपनी लेखनी के माध्यम से नागार्जुन व्यवस्था से हमेशा संघर्ष करते रहे हैं इसलिए उनका संपूर्ण काव्य जनसंघर्ष का काव्य बन गया है–''प्रतिबद्ध हूं, जी हां प्रतिबद्ध हूं– / बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित / संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निशेधार्थ / अविवेकी भीड़ की 'भेड़िया–धसान के खिलाफ / अन्ध–बधिर 'व्यक्तियों' को सही राह बतलाने के लिए / अपने आपको भी 'व्यामोह' से बारंवार उबारने की खातिर / प्रतिबद्ध हूं, जी हां, शतदा प्रतिबद्ध हूं।''

किसी के दुख–दर्द और पीड़ा को महसूस करने के लिए व्यक्ति को स्वयं उससे होकर गुजरना पड़ता है। नागार्जुन ने स्वयं कृषक एवं श्रमिक वर्ग की इस पीड़ा को भोगा है इसलिए उनकी कविताओं में इस वर्ग की पीड़ा का यथार्थ रूप चित्रित हुआ है। नागार्जुन की कविताएं हमें कृषक एवं श्रमिक वर्ग के यौवन की संवेदनाओं से जोड़ती हैं इसलिए वह जन कवि के रूप में जाने जाते हैं। इस संदर्भ में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी कहते हैं– ''नागार्जुन की कविता की शक्ति भारतीय निम्न मध्यवर्गीय जीवन को पूर्ण सहानुभूति के साथ चित्रित करने में है। वे एक कंठाहीन कवि हैं। सहज जीवन के पक्षपाती, शोषण के चक्र में पिसती हुई भारतीय जनता का, उसके रुढिवादी–अंधविश्वासी, धूमिल बदबूदार जीवन का तथा सत्ता और व्यवस्था के जनविरोधी चरित्र का, भारतीय राजनीति के छल,

भ्रष्टाचार और पाखण्ड का जैसा चित्र नागार्जुन की कविता में मिलेगा वैसा शायद ही कहीं अन्यत्र मिले। उनकी कविता मुख्य रूप से यहीं से अपनी शक्ति और खुराक ग्रहण करती है।/ नागार्जुन अपनी कविता में 'दल' के साथ तो नहीं मगर 'जन' के साथ बराबर बंधे रहे हैं।''[4]

कृषक एवं श्रमिक वर्ग की तंगहाली और भुखमरी का वर्णन नागार्जुन ने अपनी कविता में किया है। गरीब किसान–मजदूरों की इस पीडा को कवि व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं–'मकान नहीं खाली है,/दुकान नहीं खाली है. स्कूल नहीं खाली, खाली नहीं कॉलेज,/खाली नहीं ट्राम, खाली नहीं ट्रेन,/खाली नहीं माइंड, खाली नहीं ब्रेन,/खाली है हाथ, खाली है पेट,/खाली है थाली, खाली हे प्लेट।''[5]

नागार्जुन जीवनपर्यंत एक आम आदमी की तरह जीते रहे इसलिए उनकी कविताएं इस देश के आम आदमी से जुड़ी रहीं। भूख की पीड़ा की अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में बार–बार हुई है। इस देश की भूखी, पीड़ित और शोषित जनता की वेदना को जितनी गहराई से उन्होंने महसूस किया उतने ही स्वाभाविक रूप में उन्हें अपनी कविता का विषय भी बनाया। नागार्जुन में शोषित वर्ग के प्रति अपार प्रेम एवं लगाव है तो शोषकों के प्रति आक्रोश भी। वह अपनी कविताओं के माध्यम से शोषित वर्ग में चेतना का भाव जागृत करना चाहते हैं जिससे कि वे शोषण के विरुद्ध खड़े हो सकें, उनसे संघर्ष कर सकें। अपनी 'पक्षधर' कविता में कवि कहता है–''चाहते हो –/शांति, शाश्वत शांति, घन आनंद/चिर कल्याण, अक्षय अमृतधारा/तो उठो –/मन और तन की समूची ताकत लगाकर/विघ्न–बाधा के पहाड़ों को गिरा दो, ढाह दो।/राह में रोड़े पड़े हैं अमित–अगणित/उन्हीं से अतलान्त गह्वर पाट डालो।/अन्यथा –/कुछ भी नहीं तुम कर सकोगे।''[6]

नागार्जुन ने अपनी कविता के माध्यम से शोषित वर्ग में चेतना भरने का प्रयास किया है। वह शोषित वर्ग को चेताते हुए कहते हैं कि यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अपने हक एवं अधिकारों के लिए पूरे मनोयोग से उठ खड़े हो और अपनी राह में आने वाली समस्त रुकावटों को ध्वस्त कर दो, तभी तुम्हारा कल्याण हो सकेगा अन्यथा इसी तरह तुम शोषित बने रहोगे और अपने विकास के मार्ग की ओर कभी अग्रसर नहीं हो पाओगे।

नागार्जुन को सामाजिक विसंगतियों और व्यवस्था के खोखलेपन का गहरा एहसास है। आजादी के बाद जिस प्रकार से जनता को निराश किया गया यह उनकी कविता में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। नागार्जुन राजनीतिक चालबाजी, धार्मिक षड्यंत्र तथा दोहरे चरित्र पर व्यंग्यात्मक प्रहार करते हैं। अपनी कविताओं में वे सत्ताधारी, शोषण में लिप्त एवं अपने लाभ के लिए गरीबों का खून चूसने वाले नेताओं पर निशाना साधते हैं। नागार्जुन के काव्य में व्यक्तियों पर व्यंग्य का चित्रण तो है ही, व्यवस्था पर भी करारा व्यंग्य है। तभी तो नामवर सिंह उनके विषय में

कहते हैं–'कबीर के बाद हिंदी कविता में नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार अभी तक नहीं हुआ है।' नागार्जुन अपने समय की सामाजिक व्यवस्था को बदलकर शोषण व दमन चक्र से मुक्त एक नयी समाज– व्यवस्था की रचना करना चाहते हैं जहां वर्ग–संघर्ष न हो। वे शोषण, दमन और राजनीतिक दुर्व्यवस्था की आलोचना करने के लिए व्यंग्य का सहारा लेते हैं –''आओ रानी हम ढ़ोयेंगे पालकी,/यही हुई है राय जवाहरलाल की।/पार्लमेंट के प्रतिनिधियों से आदर लो, सत्कार लो,/मिनिस्टरों से शेक हैंड लो,/ जनता से जयकार लो,/दायें–बायें खड़े हजारों आफिसरों से प्यार लो,/धन–कुबेर उत्सुक दिखेंगे, उनके जरा दुलार लो।''[7]

वस्तुतः कवि की भावना उसकी संवेदना पर आधारित होती है। नागार्जुन ने अपनी अनेक रचनाओं में विकृत व्यवस्था से उपजे आक्रोश को रेखांकित किया है। इन रचनाओं में कवि की आंतरिक एवं बाह्य दोनों भावनाएं उजागर होती हैं और उनकी यही अभिव्यक्ति उन्हें प्रौढ़ और सशक्त बनाती है। एक कवि की इसी विशेषता को दर्शाते हुए साहित्यकार श्यामसुंदर दास ने अपनी पुस्तक 'साहित्यालोचन' में लिखा है– ''कविता को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो उसमें कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होता है तथा अपने विषय को ढूंढ निकालता है, दूसरा वह जिसमें वो अपनी अंतरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूंढ निकालता है उसका वर्णन करता है।''[8] नागार्जुन की कविता की विशेषता है मानव जीवन से गहरे भाव से जुड़े रहना। उनकी कविता में मानव–जीवन अपने संपूर्ण हर्ष, विशाद, सौंदर्य, कुरूपता, स्वप्नों और आकांक्षाओं के साथ रुपायित हो उठा है। नागार्जुन की प्रगतिशील चेतना ने न केवल जनता के दुख को स्वर दिया है बल्कि आस्था, विश्वास और नये संकल्प को लेकर अपने क्रांतिकारी व्यक्तित्व का भी परिचय दिया है। लोक कल्याण की आकांक्षा लिये हुए वे कहते हैं–''पुलकित तन हो/मुकलित मन हो/सरस और सक्षम जीवन हो/फिर न युद्ध हो/निर्भय निरांतक यौवन हो।''[9]

नागार्जुन जानते हैं कि मनष्य में इतनी ताकत है कि अपने लिए एक बेहतर दुनिया का निर्माण वह स्वयं कर सकता है। इसलिए उन्होंने एक प्रगतिशील कवि के रूप में शोषित वर्ग के भीतर एक नई जागृति पैदा करनी चाही जिससे कि वे अभिशापग्रस्त जीवन की वैषम्यता की पीड़ा को देखकर उसके लिए जिम्मेदार ताकतों के विरुद्ध संघर्ष कर सकें। नागार्जुन शोषित, उत्पीड़ित वर्ग को उज्ज्वल स्वस्थ भविष्य के निर्माणकर्ता के रूप में देखते हुए लिखते हैं–''हे महाप्राण/आतंकित तुमसे दानव दल/मैं मुग्ध मुदित मन देख रहा,/उज्ज्वल भविष्य का उपोद्घात्/हे कोटि शीर्ष, हे कोटि बाहु, हे कोटि चरण।''[10]

इस प्रकार नागार्जुन की कविता सामाजिक समस्याओं से न सिर्फ टकराती है बल्कि समस्याओं को लेकर आगाह भी करती है। उनकी रचनाओं की जीवंतता का सबसे बड़ा कारण है उनकी प्रगतिशीलता। नागार्जुन की ऐसी कोई भी रचना

नहीं है जिसमें इसका अभाव दिखाई दे। शिवदान सिंह चौहान ने ठीक ही लिखा है कि– ''कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी जन–चेष्टा बाह्य जीवन के अनुभव और सौंदर्यमूलक प्रवशति अर्थात् व्यवस्था, सामंजस्य और मुक्तकामी निसर्ग–चेष्टा से उत्प्रेरित होती है।'' नागार्जुन को इन बातों से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। समस्याओं को आधार बनाकर काव्य लिखने वाले नागार्जुन कई मायने में वर्तमान समय के महत्वपूर्ण कवियों में से एक है।

अतः नागार्जुन की कविताओं से गुजरने के बाद हम कह सकते हैं कि प्रगतिशील चेतना को सही और रचनात्मक रूप प्रदान करने वाले कवियों में नागार्जुन का विशिष्ट स्थान है। उनकी प्रगतिशील चेतना उन्हें हमेशा आम आदमी के सुख–दुख से जोड़ कर रखती है। नागार्जुन आम आदमी की पीड़ा, बेचैनी और संघर्ष की अभिव्यक्ति करनेवाले, शोषित जनता की व्यथा की आवाज को बुलंद करनेवाले कवि हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि सारी स्थितियां एक दिन अवश्य बदलेंगी इसलिए वे भविष्य के प्रति हमेशा आशान्वित रहे।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. संपादकीय आलोचना, जुलाई 52 अंक, पृ0 सं0 3
2. शोभाकांत, नागार्जुन रचनावली, भाग–1, पृ0 सं0 226
3. पाण्डेय मैनेजर, आलोचना की सामाजिकता, पृ0 सं0 185–186
4. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, समकालीन हिंदी कविता, पृ0 सं0 49
5. नागार्जुन, युगधारा, पृ0 सं0 104
6. वही पृ0 सं0 73–74
7. शोभाकांत, नागार्जुन रचनावली भाग–1, पृ0 सं0 348
8. श्यामसुंदर दास, साहित्यालोचन, पृ0सं0 95
9. नागार्जुन, सतरंगे पंखों वाली पृ0 सं0 44
10. नागार्जुन, युगधारा, पृ0 सं0 4
11. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं, पृ0 सं0 1
12. इंटरनेट, आलेख।

■

साहित्य विमर्श

मत्स्यपुराण में निहित बहुख्याति शिक्षा

संतोष पांडेय *

बहुआयामी शिक्षा का अर्थ है विविध पहलुओं अथवा पक्षोंवाली शिक्षा। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। शिक्षा के विषय में मत्स्य पुराण में अत्यधिक विस्तृत एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण प्रदर्शित किया गया है। इसमें मानव जीवन के सम्पूर्ण पक्ष को शिक्षा के अन्तर्गत शामिल करने का प्रयास किया गया है। इसमें सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित शिक्षा के साथ–साथ कला, संगीत, स्थापत्य, वास्तुकला, धनुर्विद्या एवं चिकित्सकीय शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया गया है, ताकि व्यक्ति का समग्र विकास किया जा सके। इस शोध पत्र में मत्स्य पुराण में निहित शिक्षा के विविध आयामों की विस्तृत रूप से विवेचना करने का प्रयास किया गया है।

हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के अन्तर्गत अष्टादश पुराणों में मत्स्य पुराण अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। भगवान श्रीहरि विष्णु के मत्स्य अवतार से सम्बन्धित होने के कारण इस पुराण को मत्स्य पुराण का नाम दिया गया। यह पुराण मत्स्य–मनु के संवाद से प्रारम्भ होता है। इसमें कुल 291 अध्याय, 14,000 लोक एवं सात कल्पों की मिली–जुली कथा है। धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ–साथ यह ग्रन्थ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्त्व का है।

मत्स्य पुराण में शिक्षा के सम्बन्ध में व्यापक विचार व्यक्तकिया गया है, इसके अनुसार शैक्षणिक विकास से ही समाज का सर्वांगीण विकास संभव है। जनसाधारण की रक्षा करने का कार्य राजा का था इसलिए राजा का सभी प्रकार के विद्या में निपुण होना नितान्त आवश्यक था। इसमें राज शिक्षा के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए बताया गया है कि राजा को दण्ड नीति, शाश्वती, आन्वीक्षिकी एवं आत्मविद्या की शिक्षा योग्य व्यक्ति से ग्रहण करना चाहिए तथा जनसाधारण से लौकिक वार्ताओं की सूचना प्राप्त करनी चाहिए।[1] इसमें अनेक स्थानों पर राजा को अश्वशिक्षा तथा हस्तशिक्षा में कुशलता प्राप्त करने की भी बात कही गई है।[2] एक स्थान पर शुक्रकच से कहते हैं कि यदि तुम छल से कच रूप

* संपर्क – शोध छात्र, प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर (उ0प्र0)

धारण कर वास्तव में इन्द्र नहीं हा`तो मुझ से मृत संजीवनी विद्या को ग्रहण करो। मेरे उदर से यदि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई छद्म वेशी होगा तो वह फिर से जीवित होकर बाहर नहीं आ सकेगा इसलिए तुम मुझसे इस विद्या को सीख कर मेरे पुत्र की भाँति मेरे उदर को फाड़ कर बाहर निकल आना तथा उसी विद्या का प्रयोग कर मुझे जीवित कर देना तथा इस धर्म सम्पन्न विद्या की रक्षा पर विशेष ध्यान देना। शुक्र से आज्ञा प्राप्त कर कच ने उस विद्या को ग्रहण कर ठीक उसी प्रकार उदर चीर कर बाहर निकला जिस प्रकार पूर्णमासी की रात्रि आने पर हिमालय पर्वत के वेत शिखर को चीरकर चन्द्रमा बाहर आता है। बाहर आकर कच ने अपने गुरू को धरती पर निर्जीव गिरा देखकर उठाया तथा मृतसंजीवनी विद्या सीखने के उपलक्ष्य में विनम्र स्वर में प्रणाम करते हुए बोला कि–निधियों के भी निधि, श्रेष्ठों को वर देने वाले, हिमवान् पर्वत की भाँति प्रकाशमान शिखर वाले नित्य वन्दनीय गुरूवर का जो सम्मान नहीं करते वे लोग इहलोक में निन्दित होने के साथ–साथ परलोक में भी पापियों के लोक को जाते हैं।[3] कुछ समय बाद कच से इस विद्या को देवतागण सीख लिए तथा वेभी कृतार्थ हो गए। विज्ञान तथा विद्यावल के सम्बन्ध में मत्स्य पुराण में कहा गया है कि ये कभी भी व्यर्थ नहीं होते हैं।[4] इसमें एक स्थान पर कहा गया है कि विद्या, तप तथा आयु में बड़ा व्यक्ति सदैव सम्मान का पात्र है।[5]

उत्तम मनुष्य के लक्षणों तथा स्वर्ग प्राप्ति के लिए आवश्यक कर्मों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपने को पण्डित समझकर अभिमान करने वाला, जो अध्ययनरत मनुष्य अपने ज्ञान से दूसरों के यश को क्षति पहुँचाता है, ऐसे व्यक्ति को न तो अक्षय लोक मिलतेहैं और न ही उसकी विद्या उसे ब्रह्म की प्राप्ति करा सकती है। अध्ययन, मौन, अग्निहोत्र तथा यज्ञ जैसे कर्ममनु य को भय से मुक्ति दिलाते हैं परन्तु ये ही कर्म अभिमान के साथ करने पर भय प्रदान करने वाले बन जाते हैं।[6] मत्स्य पुराण के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि इस समय समाज में वेद, पुराण जैसे धार्मिक ग्रन्थों के साथ–साथ धुनर्विद्या, नृत्य– संगीत तथा चिकित्साशास्त्र की भी शिक्षा प्रचलित थी। धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत वैदिक

मंत्रों के शुद्ध उच्चारण पर विशेष बल दिया जाता था। सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाश्य भूमिका में शिक्षा को परिभाषित करते हुए लिखा है कि– जिसके द्वारा वर्ण, स्वर इत्यादि के उच्चारण की शिक्षा प्रदान की जाए, वही शिक्षा है (वर्ण स्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यतेसाशिक्षा)। वास्तव में शिक्षा उन ग्रन्थों का नाम है जिनकी सहायता से वैदिक ग्रन्थों के उच्चारण का ज्ञान भली–भाँति प्राप्त हो सके। वेदों के अध्ययन–अध्यापन तथा पाठ करते समय शुद्ध उच्चारण तथा शुद्ध स्वर प्रक्रिया का होना नितान्त आवश्यक है। उच्चारण स्खलित तथा स्वर भ्रष्टवेद का पाठ न सिर्फ अशुद्ध होता है बल्कि इसका नकारात्मक परिणाम भी हो सकता है। वेद में स्वर का हेर–फेर हो जाने पर मंगलकारी के स्थान पर अमंगलकारी हो जाता है। इस सन्दर्भ में एक कथा प्राप्त होती है कि असुरों ने एक बार अपने यश कीर्ति में वृद्धि के लिए यज्ञ किया। वे यह कहना चाहते थे कि इन्द्र का शत्रु अर्थात् वृत्तासुर बढ़े परन्तु उन्होंने 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' में अन्त्योदात्त के स्थान पर आद्युदान्त

कर दिया तथा इस प्रकार इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व के स्थान पर इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व हो गया जिस कारण यह पद तत्पुरुष समास की जगहबहुब्रीही समाज का अर्थप्रदर्शित करने लगा जिससे इसका अर्थ इन्द्र का शत्रु होने के बजाए इन्द्र जो (वृत्त का) शत्रु है, वह (इन्द्र) बढ़े, यह अर्थ हो गया। परिणाम स्वरूप वृत्तासुर का विनाश हो गया तथा उसका विरोधी इन्द्र समृद्ध हो गया, इसी कारण पाणिनी महोदय ने अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में लिखा है कि–

मंत्रोहीनः स्वरतोवर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तर्मथमाह।
स वाग्वज्रो यहमानंहिनस्ति यथेन्द्रशत्रुस्वरतोऽपराधात्।।[7]

अर्थात् जो मंत्र स्वर से अथवा वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण उचित अर्थ प्रदर्शित नहीं करता है। जिस प्रकार स्वर के त्रुटि के कारण इन्द्रशत्रु शब्द यजमान का ही विनाशक बन गया। इस प्रकार की त्रुटियों को रोकने एवं स्वर, वर्ण इत्यादि के सुव्यवस्थित उच्चारण के लिए ही शिक्षा ग्रन्थों की रचना की गई। तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया कि शिक्षा के 6 अंग–वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम व सन्तान हैं (वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः)[8]। अतः स्पष्ट है कि इस समय वैदिक मन्त्रों के त्रुटि रहित उच्चारण पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाता था। इसके साथ–साथ समाज में विशेषकर क्षत्रिय वर्ण के लोगों को धुनर्विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी। मत्स्य पुराण में महाराज यदु के पाँचपुत्रों का (सहस्त्रजि, क्रोष्टु, नील, अंतिक तथा लघु) उल्लेख मिलता है[9] जो धनुर्विद्या में पारंगत होने के कारण तेजस्वी महारथी कहे गए। अतः स्पष्ट है कि धुनर्विद्या में निपुण वीरों को समाज में अत्यन्त आदर व सम्मान प्राप्त होता था।

मत्स्य पुराण में संगीत की शिक्षा से सम्बन्धित वर्णन कई लोकों में प्राप्त होता है। एक स्थान पर कहा गया है कि सभी रोगों के समेत निश्चित लयों से युक्त संगीत स्वर पर विचार–विमर्श करने की जरूरत है। आभूषण के समूह से निकलने वाली ध्वनि को किन्नरगण अपने बाजनों से दबा नहीं सकते हैं। अपनी–अपनी जाति की एक समान ध्वनियों से युक्त ये भाड्ज, मध्यम तथा परम उच्च स्वर लहर की ध्वनियाँ सर्वाधिक मात्रा में गायीजानी चाहिए। ये गौडकगण का लभेद के अनुसार अत्यन्त सूक्ष्म तथा कठिनाई से दिखने वाले स्वरों के भेदों को दिखाते हुए नतानत, नत तथा आनत इन तीनों तान के प्रकारों समेत सुमधुर संगीत का आलाप करते हुए तीव्रगति से चले जा रहे हैं।[10] ये सम्मिलित स्वर, ललित पद तथा स्पष्ट अर्थवाले संगीत निकालने वाले भाड्वादिगण प्रभु के समक्ष क्यों नहीं जाते हैं? विलासोन्मुख विविध नागों की जातिवाले, शिव के यशोगान के विस्तार से युक्त, बहुतगमक से युक्त, भिन्न–भिन्न मनोहर रास से युक्त संगीत की ध्वनि उत्पन्न कर रहे हैं। इस दिशा की तरफ, विभिन्न संगीतज्ञ लोग बहुओं से संयुक्त होकर, निरन्तर कैसे गान कर रहे हैं, जो मृदंग इत्यादि की ध्वनियों के साथ कई प्रकार के स्वरालाप तो सुने जाते हैं, लेकिन मूर्च्छना एक भी सुनाई नहीं पड़ रही है। आखिर क्यों यहाँ पर तुम्बुरू की ध्वनि के साथ विभिन्न आरोह–अवरोह

क्रम तथा भेदों से युक्त वीणा व मृदंग आदि बाजनों का शब्द सुनाई नहीं पड़ रहा है। वीरभद्र की इस तरह के आदेश युक्त बातें सुनते ही सुर एवं असुरगण अत्यधिक हर्ष व सावधानी के साथ अपने–अपने बाजे तथा गाने इत्यादि से चर–अचर जगत को व्याप्त करते हुए निरन्तर आगे बढ़ने लगे।[11] अतः स्पष्ट है कि उस समय युद्ध के दिनों में विविध प्रकार के नगाड़ों व वाद्य यन्त्रों की ध्वनियाँ सुनाई देती थी, यह तभी संभव है जब लोगों में संगीत की रूचि रही हो तथा उन्हें संगीत की शिक्षा प्रदान की जाती रही हो।

मत्स्य पुराण में द्रोण पर्वत का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस महापर्वत पर मृतसंजीवनी (मरे हुए व्यक्ति को जीवित कर देने वाली) तथा विशल्यकरणी (टूटी हुई हड्डियों को सही स्थान पर बैठाने वाली) जैसी श्रेष्ठ औषधियाँ उपस्थित हैं।[12] कुम्भमय पर्वत के बारे में कहा गया कि यह पर्वत दिव्य औषधियों से सुसज्जित होने के कारण सर्वसुख नाम से पुकारा जाता है।[13] कुमुद नामक पर्वत को भी समस्त प्रकार के औषधियों से युक्त कहा गया।[14] परियात्र गिरि की उत्तम कन्दरा के विषय में कहा गया है कि यह कन्दरा समस्त ऋतुओं में विकसित होनेवाली पुष्पों से घिरी हुई थी, यह विविध प्रकार की औषधियों से प्रकाशमान हो रही थी, यह कई प्रकार की धातुओं के चूनेवाले रसों से विचित्र रंग की प्रतीत हो रही थी।[15]

एक स्थान पर कहा गया है कि अमृत जल से युक्त बावली तथा उत्तम प्रकार की ऐसी औषधियों का आविष्कार किया जाएगा, जिसके उपयोग से समस्त सैनिक, दानव वृन्द फिर से जीवित हो जाएंगे।[16] मेना के विषय में कहा गया है कि वह अत्यन्त श्रेष्ठ प्रभावशाली आषधियों से युक्त थी, जगह–जगह पर उसमें विविध प्रकार की सिद्धार्थ महौषधियाँ थी।[17] पद्मोद् भव प्रादुर्भाव के विषय में कहा गया कि जितनी सर्वश्रेष्ठ औषधियाँ हैं, वे सभी सुरभि नामक देवी से प्रकट हुई हैं।[18] हिमवान की प्रशंसा करते हुए कहा गया कि वहाँ पर समस्त प्रकार के मनोरम भावों से संतष्ट होकर स्वयं पृथ्वी देवी ने नवीन अन्नों, रसों तथा औषथियों को व्यग्रता समेत आकर छोड़ा, यहाँ पर सभी सामान्य एवं विशेष प्रकार की औषधियाँ मूर्ति रूप में उपस्थित थी।[19] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि फलों के सारे भाग एवं आषधियों के रस से क्षीरसागर का जल दही के रूप में परिवर्तित हो गया।[20] बड़े–बड़े वृक्षों के गोद एवं आषधियों के रस जल की धारा के साथ बहकर समुद्र में मिल गए, इन अमृत की भाँति गुणवर्धक रसों एवं समुद्र के दुग्धवत् जल से सुवर्ण की तरह दमकते हुए देवता लोग अमरत्व को प्राप्त हुए।[21] मत्स्य पुराण के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग विविध प्रकार के आषधियों तथा उनके उपयोग से भी परिचित थे। यह तभी संभव है जब लोगों को चिकित्सा विद्या की शिक्षा प्रदान की जाती रही हो।

इस समय का समाज वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार संचालित होता था। ब्राह्मण वर्ण का मुख्य कार्य अध्ययन, अध्यापन, दान देना तथा दान लेना था। धार्मिक क्रियाकलापों का संचालन भी इसीवर्ग के द्वारा किया जाता था। इसी कारण इस वर्ण को धार्मिक ग्रन्थों की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी।

क्षत्रिय वर्ण का मुख्य कार्य समाज की रक्षा करना था, इसी कारण इस वर्ण को युद्ध सम्बन्धी शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। वैश्य वर्ण को वार्ता (कृषि, पशुपालन, व्यापार–वाणिज्य) की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। समाज के उच्च वर्णों विशेषकर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ण को राजनीतिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी, इसके अन्तर्गत राजा को कौन सा कार्य करना चाहिए, राज्य के विविध उच्च अधिकारियों की नियुक्ति किस प्रकार की जानी चाहिए, उनके भीतर कौन से गुण होने चाहिए तथा उनके कर्तव्य क्या हैं, राजा का निवास स्थान किस प्रकार होना चाहिए, राजकुमार/युवराज को किसप्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए, राजा के अपनी प्रजा तथा अधीनस्त सामन्तों के प्रति क्या कर्तव्य हैं, राजा की न्याय तथा दण्ड व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, राजा द्वारा किस परिस्थिति में साम, दाम, दण्ड तथा भेद में से कौन सी नीति का पालन करना चाहिए, राजा को किस प्रकार का दुर्ग निर्मित करना चाहिए ताकि वाह्य आक्रमण के समय राजा के साथ–साथ उसका राज्य एवं प्रजा दोनों सुरक्षित रहें, इन सभी के साथ–साथ राज्य के सप्तांग सिद्धान्तों की शिक्षा भी अनिवार्य रूप से दी जाती थी।

इस समय वास्तु शास्त्र या वास्तुविद्या के अनुसार गृह तथा मन्दिर निर्माण की भी शिक्षा दी जाती थी। गृह तथा मन्दिर निर्माण के लिए उपयुक्त समय, विभिन्न प्रकार के मण्डप तथा उनके समय, गृह निर्माण में उत्तम प्रकार के काष्ठ काटने की विधि, गृह निर्माण में शुभ तथा अशुभ संकेत की भी शिक्षा दी जाती थी। लोग प्रतिमा निर्माण कला से भी परिचित थे, इसके अन्तर्गत भगवान विष्णु तथा उनके मत्स्य, कूर्म, वामन, वाराह, नृसिंह, कृष्ण अवतार की प्रतिमाओं के साथ–साथ रूद्रशिव, अर्द्ध नारीश्वर शिव, गणेश, कार्तिकेय, सूर्य, ब्रह्मा, उमा माहेश्वर तथा असुरों की प्रतिमा निर्माण से सम्बन्धित शिक्षा भी दी जाती थी। प्रतिमाओं के मंगलकारी तथा अमंगलकारी स्वरूप की भी शिक्षा दी जाती थी। अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को किस प्रकार की प्रतिमा का निर्माण करनी चाहिए, उन प्रतिमाओं के प्रत्येक अंग का परिमाण कितना होना चाहिए तथा उनकी स्थापना के लिए उचित समय क्या है, इत्यादि की भी शिक्षा दी जाती थी। इसके साथ–साथ शिवलिंग के निर्माण तथा उसके प्रकार, लक्षण, स्वरूप तथा अन्य पक्षों की भी शिक्षा दी जाती थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मत्स्य पुराण कालीन समाज में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, कला एवं स्थापत्य इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा का मूल अर्थ सीखने से है। प्रायः शिक्षा को शिक्षा पद्धतियों तथा शिक्षण संस्थाओं का पर्याय ही स्वीकार कर लिया जाता है परन्तु यह तर्क संगत नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य जड़ तथा चेतन सभी से कुछ न कुछ सीखता ही है। शिक्षा के सन्दर्भ में मत्स्य पुराण का दृष्टिकोण अत्यधिक व्यापक तथा व्यवहारिक है। यह जीवन के समग्रपक्ष को शिक्षा के अन्तर्गत शामिल करता है। सामाजिक जीवन के अन्तर्गत वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, संस्कार, आश्रम व्यवस्था, स्थिति, नैतिक आचरण, व्यवहार इत्यादि की शिक्षा प्रदान करता है। इसमें धुनर्विद्या, संगीत शिक्षा, चिकित्सकीय शिक्षा पर भी जोर दिया गया है।

आर्थिक जीवन के अन्तर्गत वार्ता (कृषि, पशुपालन, व्यापार–वाणिज्य) की शिक्षा पर बल दिया गया है। मत्स्य पुराण के निर्माताओं की दृष्टि समाज के सभी वर्णों पर समान रूप से थी। सामाजिक व्यवस्था समुचित रूप से चलती रहे इसके लिए इन्होंने वैश्यों के ऊपर जिम्मेदारी सौंपी कि वे कृषि के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करें ताकि समाज के प्रत्येक वर्ण को समय से भोजन मिल सके तथा कृषि के सहयोगी के रूप में पशुपालन व व्यापार–वाणिज्य पर बल दिया। धार्मिक जीवन के अन्तर्गत विविध तीर्थ, व्रत, नवग्रह, यज्ञ, दान, देवी–देवताओं के स्वरूप तथा उनकी प्रतिमा निर्माण से सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। यह वास्तुविद्या से सम्बद्ध ज्ञान भी प्रदान करता है। राजनीतिक जीवन के अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति, राजा के कार्य, राजा द्वारा योग्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति, न्याय तथा दण्ड व्यवस्था, दुर्गनिर्माण, राज्य के सप्तांग सिद्धान्त, साम, दाम, दण्ड तथा भेद की नीति के साथ–साथ अन्य आवश्यक ज्ञान भी प्राप्त होता है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिक्षा के क्षेत्र में मत्स्य पुराण बहुआयामी दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है।

संदर्भसूची–

1. मत्स्य पुराण 215/54
2. वही, 215/8
3. वही, 215/54–59
4. वही, 29/27
5. वही, 38/2
6. वही, 39/24–25
7. पाणिनीय शिक्षा, लोक सं0 52
8. गुप्ता, डॉ0 पुष्पा, संस्कृत साहित्य व विशद् इतिहास, पृ0 151–152
9. मत्स्य पुराण 43/6–7
10. वही, 154/458–460
11. वही, 154/461–465
12. वही, 122/56
13. वही, 122/94–95
14. वही, 123/3
15. वही, 148/8
16. वही, 136/10
17. वही, 154/87–89
18. वही, 171/42
19. वही, 154/431, 486
20. वही, 249/60
21. वही, 249/76–77

■

समालोचना

लेखक की यायावरी

विमलेन्दु सिंह *

अभी–अभी एक पुस्तक आई है– 'देश परदेश'। इस पुस्तक को पढ़ते हुए मैंने कल ही चार देशों की यात्रा की और देश के दस सुंदर स्थलों का भ्रमण किया। यह पुस्तक एक यात्रा वृत्तांत है। आप इसे संस्मरणात्मक यात्रा वृत्तांत कहें तो ज्यादा सही रहेगा। 'देश परदेश' अशोक कुमार सिन्हा की लिखी हुई है। वह बिहार सरकार में अधिकारी रहे हैं और अब सेवानिवृत्ति के बाद की सक्रियता निभा रहे हैं। राज्य के प्रतिष्ठित बिहार म्यूजियम में अपर निदेशक पद की जिम्मेवारी संभाल रहे हैं। पूर्व में उपेंद्र महारथी शिल्प अनुसंधान संस्थान के निदेशक और बिहार राज्य खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड के कार्यपालक अधिकारी पद के दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वहन कर चुके हैं। इससे पूर्व और भी कई जिम्मेवारियां रही होंगी।

साहित्य की तमाम विधाओं में सबका अपना महत्व है। इनके बीच कोई तुलना नहीं की जा सकती। ऐसी ही एक विधा है यात्रा–वृत्तांत। यात्रा वृत्तांत लेखन की सफलता इस फार्मूले में निहित है कि पाठक स्वयं को लेखक का सहयात्री महसूस करे। वह स्वयं को उस स्थल पर ही समझे जहां लेखक मौजूद हैं। जिस पल या स्थल का लेखक वर्णन कर रहा होता है वह दृश्य पाठक की आंखों के सामने घूम रहा हो यानी पाठक भी उस पल या स्थल का साक्षी समझे तो समझिए लेखन सफल है। और यह कहते हुए कोई संकोच नहीं कि अशोक कुमार सिन्हा की पुस्तक 'देश–परदेश' पढ़ते हुए मुझे ऐसा ही प्रतीत हुआ।

लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित इस पुस्तक की 'देश–परदेश में कुल चौदह वृत्तांत हैं। दस देश और चार परदेश के। देश में भी छह बिहार में अलग अलग स्थानों के वृत्तांत हैं और चार अन्य प्रदेशों के। बात विदेशों की करें तो इनमें इंडोनेशिया, सिंगापुर, मॉरीशस और मैक्सिको के रोचक वृत्तांत हैं। देश विदेश के इन तमाम वृत्तांतों से गुजरते हुए कोई भी सहज महसूस कर सकता है कि लेखक गांधी, जयप्रकाश के व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रबल समर्थक हैं और गांधीवादी और समाजवादी मूल्यों के प्रति अपनी गहरी आस्था व्यक्त करते हैं। और हां, बुद्ध और बुद्ध के विचार भी इनके हृदय में बसते हैं।

* लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं। संपर्क – 1/6588, पूर्वी रोहतासनगर, शाहदरा, दिल्ली 110032, मो. – 9910343376

साहित्य और साहित्यकार संग कला और कलाकार भी इनकी अभिरुचि के विषय हैं। लेखक खेती–खलिहानी, प्रकृति–पर्यावरण से गहरा सरोकार रखते हैं। और हां, उपेंद्र महारथी शिल्प संस्थान से जुड़ाव इनके वृत्तांत में भी परिलक्षित होता दिखाई देता है। भला कहीं दीवाल से टंगी किसी पेंटिंग को देखकर उसके पेंटर को नोटिस कोई यूं ही तो नहीं करता है। लेखक कई जगह इसका उल्लेख करने से स्वयं को रोक नहीं पाए हैं। कलात्मक वस्तुओं पर इनकी निगाहें जाकर ठहर जाती हैं। मन मस्तिष्क अन्वेषण में लीन होने लगता है और ऐसा बार बार होता है।

पठन पाठन की अभिरुचि हो तो व्यक्ति में लेखन वाचन की आदत भी पड़ ही जाती है। लेखक भी इसके अपवाद नहीं हैं। लेखक में यात्रा वृत्तात्मकता की बुनियाद पड़ी दो परिजनों के सान्निध्य और स्नेह से। पहली तो पूजनीया दादी जी। वह आस्थावान महिला थीं। तीर्थ करने धार्मिक यात्राओं पर जाती थीं। जब लौटकर आती तो साथ में प्रसाद, खाने पीने की चीजें तो होती ही लेकिन जो सबसे अनमोल खजाना साथ होता वह होता था किस्सों का पिटारा। दादी रोज रात में आंगन में बैठतीं और सभी घेरकर उन्हें बैठ जाते। घर की बहुएं होती तो बच्चे भी होते। और वह एक एक किस्सा सुनाती और सभी चाव से सुन रहे होते।

दूसरे व्यक्ति जिनकी घुमक्कड़ी का प्रभाव अशोक जी के लेखन पर पड़ा वह इनके पिताजी थे। पिताजी नेवी के मुलाजिम थे। सुदूर ठिकानों पर पोस्टिंग होती। देश के कोने कोने में, सुदूरवर्ती इलाकों में। तो जब कभी घर लौटते तो साथ में एक भारी–भरकम लगेज किस्सों का भी होता। पोस्टिंग वाली जगह की कहानी। नौकरी की कहानी। सहकर्मियों की कहानी। पोस्टिंग वाले इलाके की कहानी। साहसिक कहानियां। और जहां जहां गए वहां से जुड़ी कई किस्से कहानियां। जाहिर है, अशोक जी दादी और पिताजी के असर में आ ही गए।

मैंने सबसे पहले शान ओ शौकत का शहर 'जयपुर' पढ़ा। अच्छा लगता है जब कोई लेखक स्वयं को किसी सीमा में न बांध सरोकार की भी बातें करता है। लेखक उमस भरी गर्मी में जयपुर की यात्रा पर निकले हैं लेकिन रास्ते में इन्हें खेतों में लगातार बढ़ती जा रही अट्टालिकाओं से चिंता हो रही है। वे हरियाली के लुप्त हो जाने, अन्नोत्पादन, खाद्यान्न संकट, खेती पर गहराते संकट, किसानों, बढ़ते प्रदूषण, ग्लोबल वार्मिंग, अंधाधुंध नगरीकरण और औद्योगिकीकरण, मिट्टी की बदतर होती गुणवत्ता की चिंता से स्वयं को अलग–थलग रख नहीं पाते हैं। इसके अलावा और भी कई सरोकारों से लेखक बावस्ता रखते हैं।

बहरहाल इस यात्रा के बीच में मौसम की मेहरबानी होती है और रिमझिम फुहार का आनंद लेते हुए लेखक जयपुर पहुंचते हैं। फिर होटल के कमरे से लेकर, जलमहल और आमेर के किले तक का कुछ इस प्रकार वर्णन किया है कि आप किताब में शब्दों को टटोलते हुए कब आमेर की पहाड़ी से झील को निहारने लगते हैं, आपको पता भी नहीं चलता। यह लेखन के शब्द कौशल की बानगी और लेखक की सफलता है।

एक वृत्तांत साबरमती आश्रम से जुड़ा है। शीर्षक है, 'बापू के साबरमती आश्रम से'। अगर आपने प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी की होगी और सुमित सरकार और विपिनचंद्र की इतिहास की किताबों में या फिर यूनिक, अरिहंत और लुसेंट प्रकाशन की सामान्य ज्ञान की किताबों में गोते लगाए होंगे तो मुमकिन है आप 'टॉलस्टाय आश्रम' और 'फिनिक्स फार्म' से अपरिचित नहीं होंगे। लेकिन क्या आपने 'कोचरब' का नाम सुना है? मुमकिन है नहीं सुना हो। अगर नियति की दृष्टि वक्र नहीं होती तो आप 'कोचरब' का ही नाम जान रहे होते, 'साबरमती' का नहीं। क्यों? इसकी विस्तृत जानकारी तो आपको पुस्तक पढ़कर ही मालूम होगी।

इस पुस्तक में वर्णित दो प्रसंगों की तरफ इशारा जरूर करना चाहूंगा। क्या आपने दूदा भाई का नाम सुना है? क्या आप जानते हैं कि गांधी जी की बड़ी बहन रलियत (रुगोकी बहन) किस वजह से साबरमती आश्रम छोड़ने पर आमादा हो गईं? इस प्रसंग को पढ़कर आपको गांधीजी के व्यक्तित्व को समझने में मदद मिलेगी। क्या आपने मेडेलीन स्लेड नामक महिला के बारे में सुना है जो गांधी जी के साथ 1925 से 1930 तक साबरमती आश्रम में ही रहीं? इस बारे में जानने को अगर आप इच्छुक हैं तो खुद पुस्तक पढ़ने के बारे में आपको अवश्य विचार करना चाहिए।

इस पुस्तक में बड़े ही हास्य विनोद से परिपूर्ण एक प्रसंग विट्ठल भाई पटेल से जुड़ा हुआ वर्णित है। आश्रम में विट्ठल भाई ऐसा कुछ कर रहे थे कि गांधी जी को पूछना पड़ गया कि केम विट्ठल भाई! शुं करि रही छो? (कहो विट्ठल भाई! क्या कर रहे हैं?) और विट्ठल भाई ने जो जवाब दिया उसका सार था कि आपने ही तो विदेशी वस्तुओं की होली जलाने को कहा था? और यह जवाब सुन गांधी जी सहित वहां उपस्थित तमाम लोग ठहाके लगाकर हँस पड़े। अनुमान लगाइए कि विट्ठल भाई क्या कर रहे थे? दरअसल विट्ठल भाई किसी विदेशी सिगरेट को सुलगाकर उसकी कश खींच रहे थे।

एक छोटा–सा सवाल है आपसे? सत्तर के दशक में डेढ़ लाख रुपये की आज की तारीख में कीमत कितनी होगी? शायद करोड़ो! तो बताना बस यह है कि जयप्रकाशनारायण ने सत्तर के दशक में इतनी ही इनामी राशि वाले एक कुख्यात बागी को महीनों अपने साथ छिपा कर रखा था। उसे शरण दी थी। कौन था वह चंबल के बीहड़ का बागी? कहां छिपाकर रखा था? क्यों छिपाकर रखा था? फिर क्या हुआ? ऐसे तमाम सवालों के जवाब आपको 'एक तीर्थ से गुजरते हुए' शीर्षक वृत्तांत में पढ़ने को मिलेगा।

पटना से करीब एक सौ साठ किलोमीटर दूर कोडरमा के जंगलों के करीब नवादा जिले के कौआकोल के पास एक गांव है सोखोदेवरा। यह जगह जयप्रकाश नारायण और आचार्य विनोबा भावे से जुड़ा हुआ है। जेपी से ज्यादा। वैसे यहां देशरत्न राजेंद्र बाबू भी पधार चुके हैं। इस जगह की क्या अहमियत है? इसे क्यों जेपी के सर्वोदय की प्रयोगशाला कहते हैं और साठ एकड़ जमीन में विस्तृत यहां का सोखोदेवरा आश्रम की गतिविधियां रही हैं और अब क्या होता है, जानने के लिए आपको इस यात्रा वृत्तांत की पंक्तियों से गुजरना होगा।

लेखक बिहार राज्य खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड के मुख्य कार्यकारी अधिकारी की हैसियत से सोखोदेवरा गए हुए होते हैं। रास्ते का अनुभव और आश्रम में प्रवास के अनुभवों के साथ उन्होंने यहां की अतीत में भी गहराई से गोता लगाया है। मुझे नहीं लगता कि नवादा के बाहर बिहार के अन्य जिला के ज्यादातर लोगों को इस जगह के बारे में कोई खास जानकारी होगी। यकीन मानिए अगर बिहार में कहीं ग्रामीण पर्यटन (Rural Tourism) की संभावना है तो उसमें एक नाम सोखोदेवरा को भी होना चाहिए। प्राकृतिक सुषमा से परिपूर्ण इस जगह को अगर विकसित किया जाए और समुचित सुविधाएं उपलब्ध कराई जाए तो यहां कुछ खास मौसम में सैलानी लंबे समय तक प्रवास करना पसंद करेंगे।

क्या आप शादी योग्य युवती हैं? क्या आपको शादी से पहले यह डर सता रहा है कि ससुराल में सासू मां की किचन अब संभालनी होगी? अगर हां तो आपको अपने लिए किसी योग्य वर की तलाश मैक्सिको में करनी चाहिए। यहां अस्सी फीसदी घरों में खाना बनता ही नहीं है। लोग रेस्तरां में खाना पसंद करते हैं। और हां, अगर आप किसी जॉब की तलाश में हैं और कुत्ता टहलाने में आपको कोई दिक्कत नहीं तो तेरह करोड़ की आबादी वाले मैक्सिको में अपने लिए जॉब तलाशिए जहां साढ़े चार करोड़ तो कुत्तों की आबादी है।

लेखक ने मैक्सिको की यात्रा हाल फिलहाल ही की है। वहां उनके पुत्र और पुत्रवधू रहते हैं। लेखक दादा बनने वाले थे। इस खुशी के मौके पर ही उन्होंने पत्नी संग मैक्सिको जाने का प्लान किया, और गए। यह एक तरह से व्यक्तिगत यात्रा थी। लंबी हवाई यात्रा के दौरान टाइम जोन में आए अंतर को लेकर होने वाली परेशानी और कौतूहल का लेखक ने जिस तरह वर्णन किया है यह उनकी सरलता और बनावटीपन से कोसों दूर रहने का परिचायक है। लंबी यात्रा ने उनकी जेट लेग की परेशानी और समय का भ्रम काफी बढ़ा दिया है। शरीर को इससे सामंजस्य बिठाने में ही दो एक दिन का वक्त लग जाता है। वह थोड़ा नॉर्मल होते हैं तो फिर वह देश को देखने, जानने और समझने के लिए बाहर निकलते हैं और तमाम अनुभवों को शब्दों में पिरोकर इस पुस्तक में प्रस्तुत करते हैं।

जैसा कि ऊपर उल्लेख कर चुका हूं लेखक ने इस पुस्तक में चार विदेश यात्राओं का भी उल्लेख किया है। इंडोनेशिया, मॉरीशस, सिंगापुर और मैक्सिको। साथ ही देश में उड़ीसा, सारनाथ, गुवाहाटी, जयपुर आदि की यात्रा का वृत्तांत वर्णन है तो बिहार में गणतंत्र की आदिभूमि वैशाली, चंपारण में बापू की भितिहरवा आश्रम, जेपी की जन्मभूमि सिताबदियारा, नवादा के सोखोदेवरा और बाल्मीकिनगर की यात्रा का रोचक वर्णन किया है।

एक सौ चौरासी पेज की पुस्तक पूरी पढ़ चुका हूं। पुनः पढ़ूंगा। जी अभी भरा नहीं है। पुस्तक में तस्वीरों की कमी खलती है। जितनी जगह की लेखक ने यात्रा की है उन सबकी रंग बिरंगी तस्वीरें भी देखने को मिलती तो और भी ज्यादा मजा आता। शायद प्रकाशक ने पुस्तक की लागत बढ़ने के डर से ऐसा जोखिम मोल न लिया हो। इस तरह से कह सकते हैं कि प्रकाशक ने पाठक की जेब का ख्याल रखा है। अगर ऐसा है तो यह वाजिब ही है।

■

R.N.I. Reg. No. DELHIN/2003/13814 UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर-ए 5/6, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201102 (उ.प्र.) भारत द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : डॉ. शिवनारायण
e-mail : shivnarayan22@yahoo.com